चित्रकार : सुधीर ख़ास्तगीर

देवेन्द्र सत्यार्थी

रेखाएं बोल उठीं

प्रगति प्रकाशन
नई दिल्ली

प्रकाशक
प्रोग्रेसिव पब्लिशर्स
१४-डी, फीरोजशाह रोड, नई दिल्ली

तीन रुपये

मुद्रक—श्यामकुमार गर्ग, हिन्दी प्रिंटिंग प्रेस, क्वीन्स रोड, दिल्ली

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी को

सूची

आमुख

एक बार एक कहानी-लेखक ने बताया था कि वह जब भी कोई नई कहानी लिखने बैठता है तो नई कमीज़ और नया पाजामा पहनना पसन्द करता है। कोई उसके लिए पास पड़ी छोटी तिपाई पर चाय रख जाय। बस, इतने से ही उसे प्रेरणा मिल जाती है और कई बार तो उसकी लेखनी इतने वेग से चलती है कि वह यह भी भूल जाता है कि चाय कब आई। यह बात कहानी-लेखक के लिए जितनी सत्य है, उससे कहीं अधिक एक निबन्धकार के लिए भी सत्य है, क्योंकि न तो सदा एक अच्छी कहानी का निर्माण हो सकता है और न किसी भी समय बैठकर अच्छा निबन्ध लिखा जा सकता है। सृजन के क्षण हमेशा नहीं आते। इनकी बाट जोहनी पड़ती है, और जब ये क्षण आते हैं तो बता कर नहीं आते। हाँ, क्या बुरा है यदि लेखक इनकी प्रतीक्षा में नई कमीज़ और नया पाजामा पहन कर बैठ जाय।

इतना तो स्पष्ट है कि कोई भी चीज़ लिखने बैठने से पूर्व उसकी पृष्ठभूमि का पूरा मनन होना आवश्यक है। अध्ययन के बिना तो ख़ैर बात नहीं बनती। जिस भी विषय पर लेखनी उठे उसके चतुर्दिक् लेखक की आँख घूम जाय, और उसके मन के वातायन खुले रहें जिससे बाहर

की स्वच्छ हवा उसके भावों को छू-छू जाय। लेखक की प्रतिभा इतनी ग्रहणशील होनी चाहिए कि किसी के मुख से निकला हुआ एक बोल, किसी कलाकार की तूलिका का कोई अद्वितीय चमत्कार, किसी गायक के मधुर कंठ से जलधारा-सी निकलती हुई कल-कल निनादिनी स्वरलहरी, किसी नाचती-थिरकती नर्तकी की चिर-नूतन मुद्रा—ऐसी कोई सामग्री भी एक अच्छे निबन्ध का विषय बन सकती है।

वस्तुतः एक सीधी रेखा खींच कर यह तो नहीं कहा जा सकता कि निबन्ध कैसे लिखा जाता है। एक बात याद आ गई। इन्हीं दिनों एक मित्र के यहाँ जाने का अवसर प्राप्त हुआ। मैंने देखा कि उसकी पुत्र-वधू उससे घूँघट नहीं काढ़ती। ख़ैर, मैंने मन ही मन इसकी प्रशंसा की। जिन दिनों अजन्ता के भिक्षु चित्रकारों ने गुफाओं की दीवारों पर नारी-सौन्दर्य के अद्वितीय चित्र प्रस्तुत किये थे, पुत्र-वधुएं अपने ससुरों के सम्मुख घूँघट नहीं काढ़ती होंगी—यह बात अनेक रेखाओं में मेरे सम्मुख उभरी। इतने में मेरे मित्र का सुपुत्र भी आ गया और आते ही उसने स्वेटर पहनना शुरू कर दिया। यों लगा, जैसे यह स्वेटर मेरे मित्र की पुत्र-वधू ने स्वयं बुना है। उसे चिन्ता थी कि कहीं उसका पति स्वेटर में कोई नुक्स न निकाल दे। वह उठ कर खड़ी हो गई और उसने बड़े आराम से बांहों के ऊपर से एक-एक बल निकाल कर दिखाया; जैसे किसी सुदूर ग्राम की यह नव-वधू मूक आँखों से पूछ रही हो—"कहो, कैसा लगा?..." मैंने यह दृश्य देखा, और न जाने क्या सोच कर अपने मित्र से कहा—"अच्छा निबन्ध भी ऐसे ही लिखा जाता है, जैसे स्वेटर बुना जाता है!"

मेरे मित्र ने व्यंग्य से उत्तर दिया—"उपमा कालिदासस्य..."

स्पष्ट है कि मेरे मित्र को स्वेटर बुनने के साथ निबन्ध लिखने की उपमा बहुत पसन्द नहीं आई थी।

फिर हम भोजन के लिए बैठे तो मैंने कहा—"देखिए, मैं चावल नहीं लूँगा।"

"आप के लिए रोटी बनी है।" मेरे मित्र ने झट से परिस्थिति को सँभालते हुए कहा।

मैं चाहता तो यह भी कह सकता था कि अच्छा निबन्ध बहुत कुछ ऐसे ही लिखा जाता है जैसे चावल पकाया जाता है। पर रोटी सिंकते देख कर तो मुझ से न रहा गया। मैंने हँस कर कहा—"जैसे रोटी सेंकी जाती है, ऐसे ही निबन्ध लिखा जाता है; हाँ, यह अवश्य देखना होता है कि कहीं से कच्चा न रहे और साथ ही उसे जलने से भी बचाना होता है।"

मेरे मित्र ने व्यंग्य-भरी आँखों से मेरी ओर देखा। वह उपमा वस्तुतः उसे स्वेटर बुनने की उपमा से कुछ कम हास्यास्पद प्रतीत हुई थी, इतना तो मैं समझ गया।

भोजन के पश्चात् हम बाहर निकले तो मेरे मित्र ने एक लोक-कथा की बात छेड़ दी जिसमें एक किसान अपने साथी से कहता है—"देखो भाई, दो रोटियां तो कोई कभी न खाये।" दूसरा किसान पूछता है—"कौन-कौन सी?" पहला किसान कहता है—"एक तो वह जो सबके पहले सिंकी हो, और दूसरी वह जो सबके बाद सेंकी जाय।" दूसरा किसान पूछता है—"और जहां केवल दो ही रोटियां पकाई गई हों?" पहला किसान झुंझला कर उत्तर देता है—"मैं ऐसे गये-बीते घरों की बात तो नहीं कह रहा था।"

मैंने चलते-चलते उछल कर कहा—"देखो भई, इस लोक-कथा का वास्तविक महत्त्व तो पूरी कथा सुनने पर ही समझ में आ सकता है। पर अभी इसे रहने दो...हाँ एक बात सुनो—"

मेरे मित्र ने रुक कर मेरे कन्धे पर हाथ रखते हुए बहुत उत्सुकता से कहा—"हाँ, कहिए।"

मैंने कहा—"शायद तुम यह भी कहो कि किसी निबन्ध-संग्रह का पहला और अन्तिम निबन्ध भी हर्गिज़ नहीं पढ़ना चाहिये। पर जहाँ तक, मेरे शीघ्र प्रकाशित होनेवाले निबन्ध-संग्रह 'रेखाएं बोल उठीं' का सम्बन्ध है, यह तो स्पष्ट है कि इसमें दो से अधिक निबन्ध हैं। तुम चाहो तो पहले और अन्तिम निबन्ध को छोड़ कर बीच के निबन्ध ही पढ़ सकते हो। पर इसमें भी एक रहस्य है—"

"भई, वह ज़रुर बता दो।" उसने मेरा कन्धा झँझोड़ा।

मैंने कहा—"तो सुनो। जहाँ तक रोटी के सिंकने की बात है, इस संग्रह का पहला निबन्ध वस्तुतः अन्तिम निबन्ध है, क्योंकि यह सबके पीछे लिखा गया है, या यह समझो कि जिस निबन्ध को सर्वप्रथम स्थान दे कर पुस्तक का नामकरण करना चाहता था वह कुछ जँचा नहीं और इसीलिए यह नया निबन्ध लिखकर नामकरण की समस्या हल करनी पड़ी। रचना-काल की दृष्टि से इस संग्रह का सर्व-प्रथम निबन्ध कौन-सा है, यह मैं बताना नहीं चाहता, क्योंकि मुझे भय है कि कोई पहली रोटी के समान ही उसे भी अवांछनीय न ठहरा दे। और जहां तक अन्तिम रोटी के समान अन्तिम निबन्ध को परित्यक्त समझने की बात है, मैंने इसकी गुत्थी भी सुलझा ली है। वह इस रूप में कि आमुख, जो स्वयं एक निबन्ध-सूत्र है, वस्तुतः इस संग्रह की अन्तिम रचना है।"

देवेन्द्र सत्यार्थी

१००, बेयर्ड रोड, नई दिल्ली,
३० अक्तूबर, १९४९

रेखाएं बोल उठीं

कई बार ऐसा भी होता है कि हम अपने किसी मित्र को बोलते चले जाने की छूट दे देते हैं। उस दिन की बात मैं कभी नहीं भूल सकता जब मैं रूपचैतन्य की बातें सुनते-सुनते एकदम उछल पड़ा था। एक तो उसका नाम ही ऐसा है। रूपचैतन्य! जी हाँ, यह कोई साधारण नाम नहीं। रूप का प्रभाव ही कुछ कम नहीं होता, फिर रूपचैतन्य की तो कुछ न पूछिए। सचमुच ग़ज़ब ही तो हो गया था। जैसे बस दुनियां के तख्ते पर ले-देकर वही एक फिल्म देखने-योग्य थी और अब उसी की प्रशंसा के पुल बाँधे जा रहे थे। इस फिल्म का विज्ञापन ज़ोरों से किया गया था। शायद ही पहले किसी फिल्म की प्रशंसा में ये अछूते शब्द प्रयोग में लाये गये हों, यह मैं जानता था। इस के विज्ञापन में विशेष रूप से कहा गया था—'यह चलचित्र उन्हीं लोगों के लिए है जो सौंदर्यबोधमय जीवन व्यतीत करना चाहते हैं।' तो क्या अब तक जो फिल्में देखने को मिली थीं वे सब घटिया दर्जे के लोगों के लिए ही थीं? मैं यह भी जानता था कि बड़े-बड़े प्रोफेसर और प्रिंसिपल इसे बार-बार देखने गये हैं और उन्होंने मुक्तकंठ से यह स्वीकार किया है कि एक युग के पश्चात् इतना अच्छा

चलचित्र बन पाया है। मेरा मित्र रूपचैतन्य भी तो इसी बात पर ज़ोर दे रहा था। बल्कि वह तो कह रहा था कि अमेरिका के चुने हुए कलाकार और विशेषज्ञ इस के निर्माण में वर्षों तक लगे रहे, तब कहीं जा कर वे इस में सफल हो पाये। अमेरिकन टेकनीशियनों के अतिरिक्त इस फ़िल्म के निर्माण में जर्मन टेकनीशियनों का सहयोग न मिला होता तो शायद सफलता की डोर बीच से ही टूट जाती।

हाँ, तो जब रूपचैतन्य के बहुत कहने-सुनने पर भी मैं इस फिल्म को देखने के लिए तैयार न हुआ तो वह एक दिन मेरे लिए भी टिकट ख़रीद लाया और बोला—"चलो भई, आज तुम अपनी आंखों से 'फेण्टासिया' देख आओ, जिस से मैं रोज़-रोज़ इस की प्रशंसा करने से तो बच जाऊँ।"

चित्र आरम्भ हुआ तो हम ने देखा कि आरकेस्ट्रावाले अपनी-अपनी जगह पर क्रमशः बैठते चले जा रहे हैं। फिर ये आरकेस्ट्रावाले तो लुप्त हो गये। अब रह गया संगीत। संगीत के प्रभाव से किस प्रकार सृष्टि में रूप और रंग की रेखाएं उभरती हैं, यही दिखाया जा रहा था।

रूपचैतन्य कह उठा—"तुम्हें शायद मालूम नहीं कि इस चित्र के पृष्ठभूमि-संगीत के लिए कितना रुपया खर्च किया गया है। इस संगीत का एक-एक सामूहिक प्रभाव प्रस्तुत करने के लिए सैकड़ों वाद्य-यंत्र एक साथ बजाये गये होंगे।"

मैंने कहा—"देखो भई, ये सब बातें पीछे होंगी। इस समय तो फिल्म का रस लेने दो।"

रूपचैतन्य भला कब माननेवाला था। जाने वह क्या-क्या कहता चला गया। पर मेरी आँखें रूपहले पर्दे पर जमी थीं और मेरे कान तो पहले ही पृष्ठभूमि-संगीत में खोये जा रहे थे। पर्दे पर जो चित्र

उभर रहे थे उन में कहीं प्रभातकालीन सूर्य की रक्ताभ किरणें मचल-मचल कर कोमल कलियों का स्पर्श करती थीं तो कहीं नील गगन के नीचे छाये हुए मेघों की तहें एक-दूसरी को पीछे छोड़ती जा रही थीं। पक्षियों का कलरव तो विशेष रूप से मुझे मन्त्र-मुग्ध कर रहा था।

उस समय मुझे अपने देश के उन चित्रकारों का ध्यान आया जिन्होंने अनेक वर्ष पूर्व राग-रागिनियों के चित्र प्रस्तुत किये थे। उस दिन मैं यह अनुभव किये बिना न रह सका कि विज्ञान जिस परिणाम पर पहुँचा है उसे उन चित्रकारों ने किसी न किसी रूप में पहले ही उपलब्ध कर लिया था। प्रत्येक स्वर का अपना एक विशिष्ट रंग होता है, और प्रकाश का अपना एक विशिष्ट अनुपात, यही तो 'फेण्टासिया' में दिखाया जा रहा था।

रूपचैतन्य के प्रति मेरा मन कृतज्ञता से पूर्ण हो उठा। सचमुच वह उस दिन टिकट न ले आया होता तो मैं वह चलचित्र देखने से बुरी तरह चूक जाता, क्योंकि यह इस चित्र का अन्तिम दिन था।

जब-जब षड्ज गान्धार बज उठता, पर्दे पर दृश्य और भी घना हो जाता, अंधकार की तहें जमने लगतीं। ऐसे ही एक स्थल पर रूपचैतन्य कह उठा—"देखो भई, संगीत तो स्वयं अपनी व्याख्या है, पर इस पर्दे पर संगीत के प्रभाव द्वारा रंगों और रेखाओं की भाषा सुनकर कौन है जो संगीत की शक्ति से इन्कार कर सके ?"

मैंने अपने मित्र की बात सुनी-अनसुनी कर दी, क्योंकि इस समय तो यदि वे आरकेस्ट्रा बजानेवाले स्वयं आकर पूछते कि कहिए आज का संगीत कैसा लग रहा है तो मैं कोई उत्तर दिये बिना संगीत में खोया रहना ही पसन्द करता।

जब ढोलों की मन्द ध्वनि उठती थी तो उसके ताल के मेल से तालाब की लहरें बहुत धीरे-धीरे डोलने लगतीं। रुपहले पर्दे पर यह

दृश्य सचमुच कितना अछूता प्रतीत हो रहा था। अगले ही क्षण पर्दे पर दूसरा दृश्य देखने को मिला। उड़ता हुआ पक्षी भी ढोलों की मन्द ध्वनि के प्रभाव से धीरे-धीरे पंख फैला कर उड़ता दिखाया गया था। फिर संगीत की ध्वनि तीव्र हो उठी तो दिखाया गया कि किस प्रकार सागर की उत्तुङ्ग लहरें बड़े वेग से उचक-उचक कर गगन को छू लेना चाहती हैं। संगीत की तीव्र गति कभी ज्वालामुखी के विस्फोट का रूप धारण कर उठती थी तो कभी भयङ्कर भूकम्प का। ऐसे ही एक स्थल पर रूपचैतन्य कह उठा—"दीपक राग से अवश्य दीये जल उठते रहे होंगे। हां, यह और बात है कि आज ऐसे कुशल संगीतज्ञ नहीं रहे जो दीपक राग को ठीक-ठीक गा सकें।"

रूपचैतन्य की बात उस समय मुझे सोलह आने ठीक प्रतीत हुई। पर सच पूछो तो यह समय बातें करने का नहीं था, मेरे कान स्वर-लहरियों का अनुसरण कर रहे थे और आंखें थीं कि बस यही चाहती थीं, यह चित्र कभी समाप्त न हो। जैसे रेलगाड़ी प्रकाश से एकदम अँधेरी सुरंग में से गुज़रने लगती है, कभी-कभी यों प्रतीत होता कि संगीत की भी कुछ ऐसी ही अवस्था है, और विशेषता तो यही थी कि उसी समय पर्दे पर इस मनोवैज्ञानिक सन्धि-काल का चित्र देखने को मिल जाता।

इस अद्भुत चलचित्र को देखते हुए मुझे ध्यान आया कि संगीत के सामने यदि कोई कला टिक सकती है तो वह है रंगों और रेखाओं की कला। या यह कहिए कि उस समय मैं इसी परिणाम पर पहुँचा कि रंगों और रेखाओं का भी अपना एक संगीत होता है।

रूपचैतन्य न जाने क्या सोचकर कह उठा—"जहां रेखाएं समाप्त होती हैं वहीं रंग आरम्भ होता है।"

सच पूछो तो मुझे इस प्रकार के वक्तव्य अच्छे नहीं लगते जिनमें

एक सामान्य-सा सिद्धान्त प्रस्तुत करने का यत्न किया गया हो। एक रागिनी किस प्रकार श्रोता के मन पर प्रभाव डालती है, यही तो पर्दे पर दिखाया जा रहा था। कहीं यह रागिनी नीलाभ की सुदूरता के रूप में हमारे सामने आ रही थी तो कहीं पूर्णिमा को निस्तब्ध शुभ्रता के रूप में। याद आया कि रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक स्थान पर ठीक ही कहा है—"गान के सुर के आलोक में इतनी देर बाद जैसे सत्य को देखा। अन्तर में यह गान की दृष्टि सदा जाग्रत न रहने से ही सत्य मानो तुच्छ होकर दूर खिसक पड़ता है। सुर का वाहन हमें उसी पर्दे की ओट में सत्य के लोक में वहन करके ले जाता है। वहाँ पैदल चलकर नहीं जाया जाता, वहाँ की राह किसी ने आँखों नहीं देखी।" पर इस चलचित्र को देखते हुए तो यों लगा जैसे विज्ञान के युग ने आज ये सुविधाएँ प्रस्तुत कर दी हैं जिन्हें देखते हुए यह कहा जा सकता है कि संगीत केवल कान का ही विषय नहीं, इसके प्रभाव से जिन चित्रों का निर्माण होता है, जो रेखाएँ उभरती हैं, उनसे आँखें भी तृप्त हो सकती हैं।

फिर कुछ दिनों तक तो यह हाल रहा कि जब कहीं राह चलते रूपचैतन्य मिल जाता संगीत की बात ले बैठता, जैसे उसे एकदम ख़ब्त हो गया हो।

"'फेण्टासिया' फिर भी देखने को मिल जाय तो मैं तो इसे अवश्य देखूं। तुम्हारा क्या विचार है?" एक दिन उसने मुझसे पूछ लिया।

मैंने योंही व्यंग्य से कह दिया—"मेरे यार, हममें अच्छी चीज़ों के प्रति आकर्षण अवश्य रहना चाहिये, पर यह ध्यान रहे कि हम ख़्वाह-म-ख़्वाह किसी एक ही चीज़ के पीछे दीवाने न हो जायँ। अब तुम्हें 'फेण्टासिया' से आगे बढ़ना चाहिए।"

शायद उसे मुझसे इस उत्तर की आशा न थी। वह भौचक्का-सा

होकर रह गया। क्योंकि मैंने सचमुच उसे मात दे दी थी। उसने बस इतना ही कहा—"मैं तुम्हारी बात समझा नहीं।"

मैंने कहा—"वैसे तो कोई बीस बार एक ही फिल्म को देखता रहे, पर यदि पहली बार देखते समय ही यह ध्यान रहे कि इसके एक-एक अंग को समझ लिया जाय और दोबारा देखने की आवश्यकता ही न पड़े तो क्या बुरा है? 'फेण्टासिया' का सन्देश महान् है, पर यदि इसे एक बार ही हृदयंगम कर लिया जाय तो फिर दोबारा इसे देखने की आवश्यकता नहीं रह जाती। फिर हमें यह भी तो ध्यान रखना होगा कि हमें आगे बढ़ना है। ऐसा न हो कि हममें साधारण बकरियों जितनी भी सूझ-बूझ न हो।"

"बकरियों-जितनी भी सूझ-बूझ न हो? मैं समझा नहीं।" उसने चकित होकर कहा।

मैंने समझ लिया कि आज रूपचैतन्य पर मैं पूरी तरह रोब गाँठ सकूँगा। थोड़ी और स्वतन्त्रता लेते हुए मैंने कहा—"अरे घनचक्कर, कान खोलकर सुनो। सिन्ध के सूफी कवि शाह अब्दुल लतीफ की जीवनी में मैंने कहीं इस प्रकार की बात पढ़ी थी। शाह ने कहीं देखा कि बकरियां नदी में पानी पी रही हैं। फिर उसने देखा कि जब बकरियां पानी पी चुकीं तो वे अपने रास्ते पर चल पड़ीं, उन्होंने पीछे मुड़ कर नदी की ओर देखा तक नहीं। बस, इस से कवि ने समझ लिया कि सांसारिक वस्तुओं के प्रति मनुष्य में यही बिलगता का भाव रहना चाहिये। मैं तो समझता हूँ कि कलाकार के लिये भी यह 'डिटैचमेंट' अथवा बिलगता आवश्यक है। जो कुछ वह देखता है या अनुभव करता है उससे थोड़ा हटकर वह स्वतन्त्रता-पूर्वक सोच सके, तभी तो वह संसार को कोई महान् वस्तु दे सकता है। बार-बार 'फेण्टासिया' को देखते रहने से तो यही सिद्ध होगा कि तुमने बिलगता को थोड़ा भी

महत्त्व नहीं दिया। 'फैंटासिया' से जो प्रेरणा तुम्हें मिली है, उसे अब आगे बढ़ाओ, ख़्वाह-म-ख़्वाह पीछे मुड़-मुड़कर देखने से क्या लाभ ?"

वह 'हाँ' में सिर हिलाता रहा और मैंने समझ लिया कि मैंने उसके सम्मुख जो चित्र प्रस्तुत किया है उसकी रेखाएँ इतनी ज़ोरदार हैं कि अब वह मेरे तर्क का प्रत्युत्तर नहीं दे सकता।

मैंने बात को थोड़ा आगे बढ़ाते हुए कहा—"'फैण्टासिया' फिल्म को मैं ध्वनियों, रंगों और रेखाओं की कविता कह सकता हूँ।"

फिर मैंने बड़ी तरकीब से ध्वनियों और रंगों को इस तालिका से निकालते हुए केवल रेखाओं की बात छेड़ दी—"कला के क्षेत्र में ही नहीं—जीवन के क्षेत्र में भी रेखाओं की प्रधानता है।"

वह बोला—"पर रेखाएँ तो केवल रेखाएँ हैं; व्यर्थ, निरर्थक और प्राणहीन—यदि रंग उन्हें छू न लें। और जहाँ तक ध्वनियों का सम्बन्ध है, वह तो स्पष्ट है, क्योंकि 'फैण्टासिया' ने यह सिद्ध कर दिया है कि जहाँ भी रेखाएँ और रंग नज़र आते हैं उनके पीछे ध्वनियां गूँज रही हैं अथवा वे ध्वनियों के ही प्रतीक हैं।"

मैं डर गया कि कहीं आज फिर रूपचैतन्य मेरे तर्क पर बाज़ी न ले जाय। मैंने कहा—"पर मेरे यार, तुम रेखाओं के महत्त्व को कम नहीं कर सकते। आधुनिक रिकार्डिंग यन्त्र कोमल सैलोलाइड और लाख के ऊपर ध्वनियों की रेखाएँ खींचते हैं और फिर उन्हीं रेखाओं को कुरेदने अथवा उन पर सूई चलाने से उसी संगीत की प्रतिध्वनियां निकलती हैं। यह सब तो आधुनिक विज्ञान की बात है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि आज से पहले मनुष्य ने इस सिद्धान्त को समझा ही नहीं था। जबलपुर के निकट मदनमहल का निर्माण ऐसे ही विशिष्ट शिल्पियों ने किया था। इस महल में वायु के प्रवाह का प्रतिरोध करने के लिये कुछ ऐसे स्थल बनाये गये हैं जिनसे टकराकर वायु संगीत में

परिवर्तित हो जाता है। ऐसा ही जयपुर का हवामहल है जहाँ वायु द्वारा सप्त स्वर उत्पन्न करने की व्यवस्था की गई थी। अमेरिका में तो एक ऐसी विशाल गुफा है जिसमें एक बार कोई शब्द उत्पन्न करने पर उसकी प्रतिध्वनि अनेक बार सुनाई देती है। इससे स्पष्ट है कि संगीत के जन्म का उत्तरदायित्व रेखाओं पर है जो गायक के गले में प्रकृति ने मूलरूप से रच दी हैं, या जिनकी प्रतिलिपि प्रस्तुत करने का यत्न इन महलों और गुफाओं में किया गया था। आधुनिक युग की रिकार्डिंग मशीन भी इसी कौशल की अनुगामिनी है।"

उसने उत्तर में कहा—"चलो यार, तुम्हारी ये रेखाएँ ही महान् सही। मैं वाद-विवाद म नहीं पड़ना चाहता। पर 'फेण्टासिया' का सन्देश तो यही है कि संगीत पहले है और बाकी सब चीज़ें तो संगीत का अनुसरण करती हैं।"

मैंने कहा—"पर तुम यह क्यों भूल जाते हो कि संगीत और रेखा दोनों ही अविभाज्य हैं। और आधुनिक रिकार्डिंग मशीन ने तो यह सिद्ध कर दिखाया है कि स्वर-लहरियां रेखाएँ हैं और रेखाएँ स्वर-लहरियां, बल्कि मैं तो आज इससे आगे बढ़कर यह भी कह सकता हूँ कि भाव और रेखा भी अविभाज्य हैं, क्योंकि भाव रेखाओं में प्रति-बिम्बित होते हैं और फ़िर यही रेखाएँ भावों की प्रतीक बन जाती हैं। चित्रकला में ही क्यों, कविता में भी हम यह बात स्पष्ट रूप से देखते हैं।"

वह बोला—"और नहीं तो जापानी कविता पर यह बात अवश्य ठीक उतरती है। जब जापानी कवि कहता है—

सौड़ी डाल
एक काग
शरत् काल।

तो सचमुच इन तीन रेखाओं द्वारा हमारे सम्मुख शरत् काल का पूरा चित्र प्रस्तुत कर देता है। हाँ, यह ध्यान रहे कि यह जापान है। शरत् काल का प्रभाव चतुर्दिक छा रहा है। वृक्षों की डालों पर पत्ते नहीं हैं। किसी डाल पर एक काग बैठा है। जापान ठंडा देश है और वहाँ शरत्काल तुरन्त मन में मृत्यु का भाव उत्पन्न करता है। एक डाल है जिस पर पत्तों का नाम-निशान नहीं। इस डाल पर बैठा हुआ यह काला काग शरत् काल के सूनेपन का प्रतीक है। देखा तुमने जापानी कवि का कौशल। उसने एक कुशल चित्रकार के समान तीन रेखाओं में समूचा चित्र उतार कर रख दिया। हमारा कोई कवि होता तो शरत्काल पर पूरा महाकाव्य लिखने बैठ जाता।"

मैंने देखा कि रूपचैतन्य मेरे बहुत समीप चला आया है। मैंने शह देते हुए कहा—"मालूम होता है तुमने जापानी कविता का गहरा अध्ययन किया है।"

वह चमक कर बोला—"और सुनो! एक स्थल पर जापानी कवि कहता है—

पुराना सरोवर
मेंढक की उछल-कूद
छपाक-सा शब्द!

यहाँ भी तीन ही रेखाएँ हैं। अधिक रेखाओं की तो कहीं भी ख़्वाह-मख़्वाह आवश्यकता नहीं। स्पष्ट है कि यह किसी परित्यक्त सरोवर का चित्र है जहाँ निस्तब्ध अन्धकार छाया हुआ है। ज़रा कल्पना दौड़ाओ। इसी सरोवर में एक मेंढक उछल-कूद मचा रहा है और कवि को उस मेंढक की छपाक-सी आवाज़ सुनाई दे जाती है।"

मैंने कहा—"मुझे याद है रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी जापान-

यात्रा के संस्मरण प्रस्तुत करते हुए जापानी कविता के सम्बन्ध में लिखा था—"तीन पंक्तियों की कविता संसार के और किसी देश में नहीं होतीं। ये तीन पंक्तियाँ ही कवि और पाठक दोनों के लिए पर्याप्त हैं। इसी-लिए जब से मैं यहाँ आया हूँ मैंने सुना ही नहीं कि कोई रास्ते में गान गाता जारहा हो। इनका हृदय झरने के जल के समान शब्द नहीं करता, सरोवर के जल के समान स्तब्ध है। अब तक इनकी जितनी कविताएँ मैंने देखी हैं वे सभी चित्र देखने की कविताएँ हैं; गान गाने की कविताएँ नहीं। हृदय का दाह-क्षोभ प्राणशक्ति का ह्रास कर देता है। इनके वह है ही नहीं। इनके अन्तर का सारा प्रकाश सौन्दर्यबोध में है। सौन्दर्यबोध नामक जो वस्तु है वह स्वार्थ की अपेक्षा नहीं रखती। फूल, पक्षी, चन्द्रमा—इन्हें लेकर हमारा रोना नहीं चलता। इनके साथ हमारा सम्बन्ध विशुद्ध सौन्दर्य बोध का सम्बन्ध है—वे हमें कहीं भी मारते नहीं, चोट नहीं पहुँचाते, कुछ लूट-खसोट कर चलते नहीं बनते, इनसे हमारे जीवन में कहीं भी क्षय नहीं होता। इसीलिए तीन पंक्तियों में ही भाव अँट जाता है, और कल्पना भी इसकी शान्ति में आघात नहीं पहुँचाती।"

वह बोला—"एक और जापानी कविता है—

स्वर्ग और मर्त्य फूल हैं
देवता और बुद्ध फूल हैं
मानव हृदय है फूल की अंतरात्मा।

समझने का यत्न करो कि जापानी कवि ने तीन रेखाओं द्वारा कितना बड़ा चित्र अंकित कर दिया है।"

मैंने हँसकर कहा—"इन रेखाओं की सदा जय हो!"

वह बोला—"यह प्रशंसा छोड़ो। पहले ठीक मर्म को समझ लो।

जापानी कवि कहता है कि सुन्दर का सौंदर्य तो मनुष्य के हृदयमें है। सच पूछो तो वाक्-संयम में जापानी कवि का मुकाबिला नहीं।"

मैंने कहा—"वाक्-संयम की कविता के लिए तुम जापान चले गये। मैं इसे बुरा तो नहीं कहता। पर कभी तुमने यह भी सोचा कि वाक्-संयम की कविता हमारे पड़ोस में भी मिल सकती है।"

"कहां ?" उसने चकित होकर पूछ लिया।।

मैंने कहा—"लोकगीत में ही अनेक स्थलों पर इस वाक्-संयम के अद्वितीय उदाहरण मिल जायँगे। विशेष रूप से पंजाब का 'माहिया' तो है ही जापानी 'हाकू' के पाये की चीज।"

इस पर वह मुझसे सहमत नहीं था। बोला—"कहां पंजाबी 'माहिया' और कहां जापानी 'हाकू'।"

मैंने उसका ध्यान आकर्षित करने के लिए एक 'माहिया' प्रस्तुत कर दिया—

काले काँ, माहिया
टुर गये सज्जनां दे
भुल्ल जाँदेने नाँ, माहिया !

—'काले काग हैं, प्रियतम !
बिछड़े हुए प्रेमियों के
नाम भी भूल जाते हैं, प्रियतम !'

उसने कहा—"नहीं भई, इसमें वह बात कहां जो जापानी 'हाकू' में मिलती है।"

मैंने उसकी बात को चुनौती के रूप में नहीं लिया। हां, मैंने यह आवश्यक समझा कि उसके सम्मुख 'माहिया' के टप्पे रखता चला जाऊँ—

ख़त आया ढोले दा,
इतनी मैं रुन्नीयां, चन्नां !
गलवां सिज्ज गया चोले दा !

—'प्रियतम का पत्र आया
मैं इतना रोई, ओ मेरे चांद ?
कि मेरे चोले का गरेबान भीग गया !'

दो पैसे तीर कीते
मर जान गोरीयां रन्नां
जिन्हां मुण्डे वी फकीर कीते !

—'दो पैसे तीर के समान छोड़ दिये
ये गोरी युवतियां मर जायें
जिन्होंने युवकों को फकीर बना डाला !'

दो टप्पे गवेनीयां
टप्पे-शप्पे कुञ्झ नी चन्ना
दिल दा साड़ कढेनीआँ !

—'मैं दो टप्पे गा रही हूँ
टप्पे-शप्पे कोई नहीं, ओ मेरे चांद !
मैं तो दिल की जलन बाहर निकाल रही हूँ !'

तुसीं रेल उत्ते आ गये ओ
मैले साडे कपड़े, चन्नां !
आशक काहीं उत्ते हो गये ओ ?

—'तुम रेलगाड़ी पर आ गये
हमारे वस्त्र तो बहुत मैले हैं, ओ चांद !
तुम किन पर आशिक होगये हो ?'

वे कटोरा काँसी दा
माही दी जुदाई ऐवें
जिवें भूटा फाँसी दा

—'कांसे का कटोरा है
प्रियतम का वियोग ऐसा है
जैसे फांसी की पैंग।'

कणकां दी राही होसी
उग्ग पइयाँ कणकां चन्ना
आँदा मेरा माही होसी !

—'गेहूँ के खेत गोड़े जायँगे,
गेहूँ उग आया, ओ चांद !
मेरा प्रियतम कहीं आता ही होगा।'

गल काली गानी आ
माहिया नहीं मुक्कना
एहदी लम्मी कहानी आ

—'गले में काली "गानी" [1]
माहिया गान समाप्त नहीं होगा
इसकी तो लम्बी कहानी है।'

मैंने कहा—"कहो भई, रूपचैतन्य, इन सात 'माहिया' गीतों में से तुम्हें एक-आध तो अवश्य पसन्द आया होगा। छोड़ो यह बात कि 'माहिया' जापानी 'हाकू' का मुकाबिला कर सकता है या नहीं। पर इतना तो तुम भी स्वीकार करोगे कि 'माहिया' की कविता भी उसी

[1] बटा हुआ धागा जिसमें तावीज़ बँधा रहता है।

श्रेणी की कविता है। तीन ही रेखाएँ यहां भी पर्याप्त समझी गई हैं। बल्कि कभी तो ऐसा भी होता है कि दूसरी रेखा को ही थोड़ा मोड़कर तीसरी रेखा का काम ले लिया जाता है। 'माहिया' की पहली रेखा पृष्ठभूमि का काम देती है। प्रियतम का पत्र आता है तो प्रियतमा की आंखों से आंसुओं की झड़ी लग जाती है, उसका गरेबान भीग जाता है। काँसे का कटोरा देखकर भी प्रियतम का ध्यान आये बिना नहीं रहता और नारी-हृदय गा उठता है कि प्रियतम का वियोग तो फाँसी पर चढ़ने के समान है। गेहूँ का खेत गोड़ने का ध्यान आते ही उगते गेहूँ का दृश्य सामने आ जाता है—हां, अब तो प्रियतम को लौट आना चाहिए।"

वह बोला—"और वह 'माहिया' भी कितना अजीब है जिसमें कोई कहता है कि उसने दो पैसे तीर के समान छोड़ दिये, अर्थात् किसी को दे डाले, और फिर कहा गया है कि गांव की गोरी युवतियां मर जायँ जिन्होंने युवकों को फ़कीर बना दिया।"

मैंने कहा—"दो पैसे पर क्यों हँसते हो, मेरे यार ? ज़रा इतिहास के पृष्ठ पलट कर देखो। पहले ज़माने में तो दो पैसे का बहुत मूल्य था। कहते हैं शेरशाह के ज़माने के एक शिलालेख पर, जो बिहार में सहसराम के समीप है, साफ़-साफ़ लिखा हुआ है कि उन दिनों रुपये का सात-आठ मन गेहूँ मिलता था और कोई पांच मन धान। भई, यह बात मैं स्मृति से कह रहा हूँ। हो सकता है इसमें एक आध मन की घटा-बढ़ी हो। पर इससे क्या अन्तर पड़ता है। इतना तो स्वतःसिद्ध है कि इस हिसाब से उन दिनों दो पैसे का बहुत मूल्य था।"

रूपचैतन्य भौचक्का-सा बैठा रहा। सच कहता हूँ, मेरी कल्पना में शेरशाह का चित्र अंकित हो गया। एक रेखा इधर, एक रेखा उधर। मन के कला-भवन में बैठा चितेरा बड़ी कुशलता से तूलिका के स्पर्श

दिये जा रहा था। यह चित्र लम्बा होता चला गया। मैंने देखा शेरशाह उस सड़क का निर्माण करा रहा था, जो आज भी पेशावर से कलकत्त जानेवाली ग्रैंड ट्रंक रोड के रूप में विद्यमान है। इस चित्र में वह दृश्य भी उभरा जब शेरशाह ने इस सड़क के किनारे अनेक सरायों का निर्माण कराया था और सड़क के किनारे-किनारे छायादार और फलदार वृत्त लगवाये थे। वह सैकड़ों वर्ष पहले का युग मेरी कल्पना में सजीव हो उठा। इसकी चर्चा करते हुए मैंने रूपचैतन्य को विश्वास दिलाया कि इतिहास का अध्ययन आवश्यक है। इसके बिना हम न संगीत को समझ सकते हैं, न कविता को। मैंने उसे उन संगीतकारों का ध्यान दिलाया जिन्होंने सर्वप्रथम राग-रागिनियों का विश्लेषण किया होगा। किस प्रकार देश-देश में संगीत के साधकों ने स्वर की आराधना की, कैसे इन स्वर-लहरियों का सीधी-टेढ़ी और घुमावदार रेखाओं में बांध कर आनेवाली पीढ़ियों का मार्ग प्रशस्त किया, किस प्रकार चित्रकला में उन्नति हुई, और देश-देश में विभिन्न कला-शैलियों का जन्म और विकास हुआ, किस प्रकार देश-देश में कविता ने जातिगत मानव-चेतना की आधार-शिलाएं रखीं—यह सब भी तो एक बृहत् 'फेण्टासिया' है—एक महान् कल्पना-चित्र, यह बात मैंने बहुत ज़ोर देकर कही।

"निरा कल्पना-चित्र भी तो नहीं!" रूपचैतन्य ने चमक कर कहा।

मैंने देखा कि अब मेरा उस पर रोब पूरी तरह जम चुका है। उस दिन मेरी बारी थी और मैंने उसके सम्मुख रेखाओं का सिक्का मनवाने की बात को भुलाया नहीं। झट से मैंने कहा—"एक बार फिर कहो—रेखाओं की जय!"

अब वह भाग कर कहां जा सकता था। उसकी आंखों में वही चमक थी, जो 'फेण्टासिया' फिल्म को देखकर उत्पन्न हुई थी। क्या यह सब कल्पना का ही चमत्कार था? मन में तो मैं खूब जानता था कि ध्वनियों

रंगों, रेखाओं और भावनाओं का अपना-अपना महत्त्व है। पर ऊपर से मैंने यही कहा—"रेखाएं ही सब-कुछ हैं। ये न हों तो ध्वनियां भी व्यर्थ हैं और रंग भी और भावनाएं भी, क्योंकि इन्हीं का तो समूची-कला और जीवन-परम्परा पर आधिपत्य है।"

रूप-चैतन्य को प्रत्युत्तर का ध्यान न था। वह तो मन्त्रमुग्ध-सा बैठा था। क्या यह 'माहिया' का प्रभाव था? शायद वह भी दो पैसे तीर के समान छोड़ने की कल्पना कर रहा था। मेरे जी में तो आया कि उससे साफ़-साफ़ कह दूं—देखो घनचक्कर, मन की सलेट पर खिंची हुई उन रेखाओं को मिटा डालो। मेरे यार, यह किस गोरी का चित्र है? यह तुम्हारी नहीं हो सकती। तुम्हारे दो पैसे उसे नहीं चाहिए। आज इन दो पैसों का मूल्य ही क्या है? शेरशाह का ज़माना भी होता तो भी यह गोरी तुम्हारे दो पैसों को ठुकरा देती। गांव में प्रेम बिकता नहीं......फिर मुझे ध्यान आया कि यह मैं क्या सोच रहा हूँ, क्योंकि आज तो चतुर्दिक् पैसे का ही साम्राज्य नज़र आता है। पैसे का मूल्य जितना भी गिरता जाता है, पैसा और भी आवश्यक होता जाता है। ...पर पैसे की बात से हटकर मेरा ध्यान फिर से रंगों, रेखाओं और ध्वनियों की भूल-भुलैयां में खो गया। जैसे अर्द्ध-जाग्रत अवस्था में झपकी-सी आ जाय और फिर एकाएक ऊँघ को झटके से दूर भगा दे, मैं शान्त भाव से अपने मित्र की ओर देखने लगा।

रूपचैतन्य उसी तरह मन्त्रमुग्ध-सा बैठा था। जैसे वह अभी कागज़ पर उस गोरी का चित्र अंकित कर सकता हो; जैसे विश्व के समूचे संगीत और काव्य की नायिका यही गोरी हो। जी हां, अब तो उसके सम्मुख उसी गोरी का चित्र पूरी तरह आ चुका था जो स्वयं किसी 'फेण्टासिया' से कम न था। मुझे यह समझते देर न लगी कि जब रेखाएं बोल उठती हैं, मन की यही अवस्था हो जाती है। जी हां,

गोरी की एक-एक स्वरलहरी शत-शत रेखाओं द्वारा प्रसारित होकर अखिल विश्व में छा जाती है। यही गोरी मदनमहल और हवा महल में संगीत-लहरियां बखेरती है, यही अमेरिका की गुफा में पहुँच कर अपनी आवाज़ को प्रतिध्वनित करती है !

जहां देश-देश की आवाज़ एक है

मुझे अपने देश के उन पुरखाओं का ध्यान आता है जो आज से सैकड़ों वर्ष पूर्व अनेक देशों में अपनी संस्कृति लेकर गये थे। वहाँ यदि उनका स्वागत हुआ था तो इसीलिए कि वे संस्कृति की व्याख्या करते समय संकुचित भावनाओं का प्रदर्शन नहीं करते थे। मलाया और हिन्देशिया में जहां कभी भारतीय संस्कृति के अग्रदूत अपने देश का सन्देश लेकर गये थे और जहाँ बाद में इस्लाम ने अपनी पृथक् विचारधारा का प्रसार किया, आज भी वहां की कहानियों और नृत्य-गान की परम्पराओं में भारतीय संस्कृति की आत्मा पग-पग पर झंकृत हो उठती है। ख़ैर, यह तो अतीत के प्रभाव की बात है। जहां तक आज की परिस्थितियों का सम्बन्ध है, विश्व-मैत्री और विश्व-शान्ति की स्थापना में यदि हम सफल हो सकते हैं तो केवल अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य और संस्कृति के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा, या फिर अन्तराष्ट्रीय साहित्यकारों की विश्व-व्यापी यात्राओं द्वारा जब वे एक विश्व और एक मानवता के सन्देश को विश्व के कोने-कोने तक पहुँचाने का दायित्व

निभा सकें।

जब रवीन्द्रनाथ ठाकुर पूर्व अथवा एशिया के प्रतिनिधि साहित्य-कार के रूप में पश्चिम के देशों की यात्रा पर गये तो उन्होंने सदैव विश्व-मैत्री के आदर्श को अपने सामने रखा। वे पूर्व और पश्चिम के बीच बड़ी-बड़ी दीवारों का अस्तित्त्व नहीं मानते थे। आज विश्व की अनेक भाषाओं में उनकी रचनाओं के अनुवाद उपलब्ध हैं। मूल में नहीं तो अनुवाद में ही सही, आज रवीन्द्रनाथ ठाकुर की रचनात्मक प्रतिभा के चमत्कार देश-देश की भाषा के साहित्य में उसी तरह अपना सिक्का जमाये हुए हैं जैसे इस विशाल देश की विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य में। 'गीतांजलि' पर नोबल पुरस्कार मिला था, पर वृहत् रवीन्द्र-साहित्य में तो इससे कहीं सुन्दर ग्रन्थ उपलब्ध हैं।

रोम्यां रोलां का 'ज्ञीन क्रिस्तोफ़' पढ़ते समय मुझे यह अनुभव होने लगता है कि यह महान् साहित्यकार अपनी जन्मभूमि के संस्मरणों में तो अमर रहेगा ही, मेरे लिए भी उसका कुछ कम महत्त्व नहीं। एक भाषा की अमर कृति जब भी अनूदित होकर दूसरी किसी भाषा में पढ़ने को मिलती है तो यों लगता है कि ये दो देश एक दूसरे के बहुत समीप आ गये हैं; जैसे दोनों देशों की आवाज़ बिल्कुल एक ही हो।

विश्व के देश आज एक दूसरे के जितने समीप हैं पहले कभी नहीं थे। यह अलग बात है कि राजनीतिक दलबन्दियों के कारण विभिन्न देश एक दूसरे के समीप होते हुए भी पृथकता की गहरी खाई का अनुभव करते हैं।

ताजिकस्तानी कवि मिरज़ो तुरसन ज़देह ने अपनी कुछ कविताओं में विशेष रूप से भारत की चर्चा की है। 'भारतीय लोकगीत', 'श्री गंगा', 'वे व्यक्ति जो धुँधले पश्चिम से उतरे हैं', और 'ताराचन्द'—इन कविताओं में भारत का जो चित्र प्रस्तुत किया गया है वह सचमुच ताज़िकस्तान और भारत में सद्भावना का प्रतीक है। मिरज़ो तुरसन

ज़ादेह ने सन् १९४७ में भारत की यात्रा की थी जब वे एशियाई सम्मेलन में निमन्त्रित होकर दिल्ली आये थे। 'भारतीय लोकगीत' में कवि ने शत-शत शताब्दियों से दलित और उपेक्षित हरिजनों की सामाजिक स्थिति प्रकाश डाला है। 'वे व्यक्ति जो धुँधले पश्चिम से उतरे हैं' में कवि ने गौरांग महाप्रभुओं को खूब आड़े हाथों लिया है जिनके शासन-काल में जनता की चीख़-पुकार ऊँची से ऊँची होती चली गई।

सोचता हूँ एक न एक दिन मैं ताज़िकस्तान की यात्रा अवश्य करूंगा, और जिस प्रकार ताज़िकस्तानी कवि ने अपनी भाषा में भारत का चित्र प्रस्तुत किया है, मैं भी अपनी भाषा में ताज़िकस्तान का चित्र अंकित कर दिखाऊंगा।

अभी उस दिन एक चीनी मित्र से भेंट हुई। बातचीत के सिलसिले में मैंने अपने चीनी मित्र को बताया कि मैंने पुरातन चीनी लोक-गीतों के कुछ अनुवाद देखे हैं और मुझे उनमें और भारतीय लोकगीतों में बहुत बड़ा साम्य दिखाई देता है।

"आज की चीनी कविता का शायद तुमने अध्ययन नहीं किया,' उसने बड़ी गम्भीरता से कहा।

"बहुत अधिक तो नहीं," मैंने कहा, "इधर नई चीनी कविताओं के कुछ अनुवाद अवश्य देखने को मिले हैं।"

"तो उन कविताओं में चीन की आवाज़ सुनाई दी होगी"; मेरे चीनी मित्र ने फिर गम्भीर होकर कहा।

इस पर मैंने आधुनिक चीनी कवि तु-चा की 'मिट्टी के किले में शाम' शीर्षक कविता का उल्लेख किया—

चुपचाप सो जाओ, ओ चीन के मैदान!
मौन हो, शान्त हो,

बिना तड़पे, बिना आह या कराह के,
महान् मन में छिपाये सौ-सौ मन पीड़ा-भार

× × ×

अन्तिम निशा,
मैं दुःख-तट से पार हुआ था,
अनिल-पिशाच ने तपाया तुम्हें
मेरा भी बदन झुलसा के लाल कर दिया,
आज,
मैं परन्तु रक्षा करता हूँ शाम से मिट्टी के किले के पास,
जैसे करती हो रक्षा सन्तान रोगिणी स्नेहमयी माता की,
थकी आँखें लगाये हुए हूं
क्षितिज की ओर उत्सुकता से, उषा की आशा में !

"यह कविता तुम्हें कहां मिली ?" मेरा चीनी मित्र कह उठा।

मैंने अपने मित्र को बताया कि इस कविता का उल्लेख शान्ति-निकेतन में चीन-भवन के अध्यापक श्री उ-शिऔ-लिङ् ने अपने 'युद्धारम्भ के बाद चीनी काव्य की प्रवृत्ति' शीर्षक लेख में विशेष रूप से किया है, और विद्वान् लेखक ने यह भी बताया है कि कवि ने गत चीन-जापान युद्ध के दिनों में छू-च्याङ् नगरी पर जापानियों के बम बरसाने पर यह कविता लिखी थी जिनकी आग चार दिन तक नहीं बुझी थी।

"यही तो चीन की आवाज़ है !" मेरे चीनी मित्र ने ज़ोर देकर कहा।

मैंने इस अवसर पर चीनी कवि थिएन्-तिङ् की 'विजय-गान' शीर्षक कविता का उल्लेख करना भी आवश्यक समझा—

क्लेश-पीड़ा की महाधरित्री में,
शोक प्रतिशोधपूर्ण कानन में,
एक घनवृष्टि-सा, बज्र की कड़क-सा संगीत-स्वर।
एक टोली मृत्यु और नाश पर पाँव धर,
किया ऊंचे कंठ से
युद्ध घटना की महिमाओं का विजय-गान।
हम
युद्ध-कान्तार से हो गये हैं पार,
युद्ध के क्षेत्र से हो गये हैं पार,
युद्ध के नद से हो गये हैं पार।
हम
मिटा चुके अन्धकार,
मिटा चुके मृत्यु-संहार,
सामने है उषाकाल,
सामने है स्वतन्त्रता,
सामने है विजय की महान्‌भूमि,
वीरता की दृढ़ता का ऊँचा उन्नत स्वर।

इस चीनी कविता पर बहुत देर तक चर्चा होती रही। मैंने बताया कि श्री उ-शिश्रौ-लिङ् ने इस कविता का उल्लेख करते हुए लिखा है—"युद्ध के बाद आधुनिक कविता का रूप-विन्यास बहुत कुछ बदल गया, पहले से बहुत कुछ भिन्न हो गया। पहले तो कवि अपनी-अपनी डफली पर अपना-अपना राग अलापते थे। अब वे व्यक्तिगत संकुचित विनोद एवं अपनी मौज या भावुकता के लिये गीत गाना बन्द कर जनता की भावना के गीत गाने लगे। दूसरी बात यह हुई कि कविता में पूर्व-

कालीन दुःखवाद न रहा, पर एक प्रकार की व्यापक महान् क्षमा, उदारता, मैत्री एवं दूसरों के प्रति सहृदयता एवं सहानुभूति गूढ़ पीड़ा को छिपाये कविता में आ गई।"

सोचता हूँ विश्व की यात्रा शुरू करते समय पहले चीन जाऊँ और इन चीनी कवियों से मिलूं जिनकी कविताओं में चीन की आवाज़ गूँज उठी है। वे अवश्य पूछेंगे—'हिन्दुस्तान की आवाज़ क्या है?' इसके उत्तर में मैं यही कहूँगा—'वही जो चीन की आवाज़ है, वही जो सचमुच विश्व की आवाज़ है।'

एक ओर से प्रसिद्ध अमरीकन कवि वाल्ट ह्विटमैन की आवाज़ मेरे मन का स्पर्श करती है—

मेरे गीतों का निर्माण विभाजनों के अनुबन्ध में न होगा
वरन् मेरे पल्लवों, गीतों, सूत्रों और विचारोंका निर्माण
अखिलता के अनुबन्ध में होगा
मेरा गान एक दिवस के अनुबन्ध में नहीं;
सर्वकालीनता के अनुवन्धन में होगा।

दूसरी ओर से रूसी कवि माइकावस्को की आवाज़ गूँज उठती है—

सुनो!
भावी पीढ़ियों में आनेवाले माननीय साथियों!
उत्तराधिकारियों!
हमरे युग की जमी हुई गन्दगी की तह उलट कर
अन्धकारमयी और मृतप्राय शताब्दियों में से हमारे युग
की ओर निहारते हुए
सम्भव है, तुम मेरे—अर्थात् माइकावस्की के
सम्बन्धमें पूछो

और तुम्हारे विद्यानुरागी महानुभाव
पुस्तकीय विद्या की दलदल में कुलबलाते हुए
यह रहस्योद्घाटन करें
कि किसी युग में एक दिलजला गायक था
जिसे गतिरोध से घोर घृणा थी।
प्रोफेसर!
अपनी आँखों से ऐनक उतार दो
मैं तुम्हें अपने युग और अपने सम्बन्ध में
स्वयं बताता हूँ,
मैं दारोग़ा सफ़ाई और पानी ढोनेवाला भिश्ती हूँ
जिसे क्रान्ति ने मोरचे पर खड़ा कर दिया है।

इन आवाज़ों की गति-विधि में विश्व-साहित्य की वह आकांक्षा निहित है जो इसे युग-युग की वस्तु बनाने में सहायक होती है। मानव की समस्या तो सर्वत्र प्रायः एक-सी मानसिक और आर्थिक परिस्थितियों को लाँघती हुई नज़र आती है। इस रंगभूमि पर सभी देश अपनी-अपनी बात कहते हैं—अपने-अपने युग की बात। पर साहित्य की बाँसुरी में से गुज़रने के पश्चात् विभिन्न आवाज़ों में भी स्वर-साम्य स्थापित हो जाता है।

टी० एस० इलियट, जिसने अपनी 'वेस्टलैंड' शीर्षक सुविख्यात कविता की इतिश्री करते समय भारतीय संस्कृति की प्रतिनिधि वाणी 'शान्तिः शान्तिः शान्तिः' का उपयोग करने से तनिक भी संकोच नहीं किया। इस कविता में एक स्थल पर एक व्यंग्य-चित्र प्रस्तुत करते हुए कवि कहता है—

जब सुन्दरी मूर्खता कर बैठती है और

फिर एकाकिनी अपने कमरे में टहलने लगती है
यन्त्रवत् चलनेवाले हाथ से वह अपने केशों को सँवार
लेती है
और ग्रामोफोन पर एक रेकार्ड लगा देती है !

शायद जीवन में एक क्षण आता है जब सब-कुछ उबा देनेवाली वस्तु प्रतीत होता है। इसी को कवि ने सफलतापूर्वक अपने व्यंग्य-चित्र का विषय बना लिया है। क्या यह केवल लन्दन के जीवन ही की एक झाँकी है? निस्सन्देह कवि ने इस चित्र में सार्वदेशिकता का समावेश कर दिया है। व्यंग्य का लक्ष्य लन्दन नहीं, समूचा आधुनिक युग है जिसकी छाया आज विश्व के प्रत्येक उन्नत देश पर पड़ रही है।

स्पेन के सम्बन्ध में लिखते समय ऑडन ने यह बात विशेष ज़ोर दे कर कही थी—"यह आवश्यक है कि कविता जीवित और मृत दोनों में से एक को अवश्य चुन ले।" ऑडन 'मृत्यु के नाच' में सूत्रधार के मुख से कह उठता है—"आज शाम के खेल में हम आप के सामने एक वर्ग के पतन का—कैसे उसके सदस्य एक नये जीवन के स्वप्न देखते हैं किन्तु अपने दिलों मे चुपके-चुपके पुराने जीवन की ही कामना करते हैं क्योंकि उनके भीतर मृत्यु के तत्त्व भरे हैं—एक चित्र प्रस्तुत करेंगे। हम उस मृत्यु को एक नर्तकी के रूप में उपस्थित कर रहे हैं।"

आधुनिक कवि की आवाज़ आज विश्व-साहित्य की आवाज़ है। 'मृत्यु की आकृतियाँ' में स्टीफन स्पेंडर कहता है—

जीवित कंकालों के ऊपर गगनचुम्बी महल खड़े रहते हैं
डिक्टेटरों की महत्वाकांक्षाओं की हड़बड़ी
अपनी ही खेती को उजाड़ देती है !

सिसिल डे लुई, जिसने अंग्रेज़ी कविता में नया भविष्य देखने की प्रवृत्ति को अग्रसर किया है, वर्तमान जीवन के लिए बड़ी चुभती हुई उपमा देता है—

> *चल देना चाहिए हमें! हमारे इंजन के स्टीम के शोर से*
> *आकाश के नीचे कुछ भी तो सुनाई नहीं देता!*

आज जो देश स्वतन्त्र हैं वे बराबर स्वतन्त्र रहना चाहते हैं, जो अभी तक स्वतन्त्र नहीं हो सके, स्वतन्त्रता के लिए बराबर जूझ रहे हैं। स्वतन्त्रता प्रत्येक राष्ट्र को प्रिय है।

सोचता हूं जब तक सभी राष्ट्र बरादरी का दावा नहीं कर सकते, मानवता अपनी परम्पराओं पर कैसे गर्व कर सकती है। कहीं छोटे-बड़े राष्ट्र के भेद हैं तो कहीं वर्गीय भेद-भाव के कारण युद्ध की धमकी सुनने को मिल जाती है। एक युद्ध की याद भूली न थी कि दूसरा युद्ध आ गया। अभी उस दूसरे युद्ध की याद ताज़ा है और तीसरे युद्ध की बात सुनाई देने लगी है। मानवता का लाभ इसी में है कि युद्ध न हो। देश-देश की जनता शान्ति चाहती है। यहां देश-देश की आवाज़ एक है, क्योंकि शान्ति के दिनों में ही कोई भी राष्ट्र बाहर से आनेवाले यात्रियों का पूरी तरह स्वागत कर सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय मैत्री और एकता के लिए उपयोगी वातावरण के लिए देश-देश के परस्पर सांस्कृतिक सम्बन्ध तो नितान्त आवश्यक हैं।

"जातीय भेदभाव युद्ध-पक्षपाती रवैया पैदा करता है!"—जलपान करते समय मेरा मित्र कुरसी से उछल कर समाचारपत्र का पन्ना खोल कर मेरे सामने रखते हुए कह उठता है—"यह लीजिए संयुक्त राष्ट्रीय उपकमीशन ने अपना स्मरण-पत्र पेश कर दिया।"

"तुम्हीं पढ़ कर सुना दो न," मैं चाय की प्याली उठाते हुए कहता

हूं। वह समाचार पढ़ कर सुनाता है, मानो वह स्वयं संयुक्त राष्ट्रीय मंच से घोषणा कर रहा हो—"यह स्मरणपत्र ६०० वैज्ञानिकों के गम्भीर अध्ययन का परिणाम है, जिसमें समाज-शास्त्र, मनुष्य-विज्ञान, इतिहास, अर्थ और दर्शनशास्त्र के विद्वान् सम्मिमिल हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर तथा मानवाधिकारों की सार्वभौम घोषणा का आधार बना कर ६२ पृष्ठ के इस स्मरणपत्र में कहा गया है कि भेदभाव प्रायः पक्षपात के कारण उत्पन्न होता है और उसके तीन कारण हैं—१. सांस्कृतिक संघर्ष, २. अयुक्तियुक्त भावाविष्ट प्रतिक्रियाएं, और ३. हितों का संघर्ष। स्मरणपत्र में इस बात पर ज़ोर दिया गया है कि इन में से कोई भी कारण युद्ध-पक्षपाती प्रवृत्ति उत्पन्न करता है, और ये पक्षपात उस से पैदा हुई प्रतिक्रियाओं से बढ़ते ही चले जाते हैं जिससे मनुष्य युद्ध की ओर दिन-दूना और रात-चौगुना अग्रसर होता है। इस स्मरणपत्र में उन भेदभावों की भी चर्चा है जो किसी पक्षपात से नहीं, किन्तु आर्थिक हितों के कारण किये जाते हैं। इस को रोकने के लिए स्मरण पत्र में कहा गया है कि ऐसे सभी कृत्यों का विधान के अनुसार दमन किया जाना चाहिए जिनसे वैधानिक समता खण्डित होती है। किन्तु साथ ही वैयक्तिक स्वाधीनता में हस्तक्षेप नहीं किया जाना चाहिए क्योंकि भेदभावों को रोकना जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही वैयक्तिक स्वाधीनता भी महत्त्वपूर्ण है।"

सोचता हूँ इस पर तो किसी भी देश का मतभेद नहीं होना चाहिए। यह तो सचमुच मानवता का तकाज़ा है। आज यदि हम जातीय भेदभाव दूर नहीं कर पाते तो अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य की आवाज़ भी व्यर्थ सिद्ध होगी।

जागो, नूतन वसन्त गान

पर्वतों और वनस्थलियों के ऊपर होता हुआ वसन्त आ पहुँचा।

इससे अच्छी ऋतु कौन-सी होगी जब प्रकृति को प्रणाम किया जाय। उत्सव में थोड़ा-सा विलम्ब भी नहीं सुहाता। यह हर्ष, यह उत्साह—यह सब चिरन्तन है। फिर आ गया वसन्त नये उपहार लेकर, पास से कोई कह उठता है। जी हां, अब नये भाव जाग उठे, नये फूल खिल उठे। जैसे एकाएक प्रकृति का हृदय छलकने लगा हो। ये नाचते-थिरकते स्वर—ये स्वर किस गान को जन्म देंगे ? सभी उत्सव हर्ष और उत्साह लेकर आते हैं, पर वसन्तोत्सव अपने साथ जो आमोद-प्रमोद लाता है, उसका मुकाबला नहीं। इस अवसर पर प्रकृति के उल्लास के साथ एक-स्वर होकर मानव विशुद्ध आनन्द पाने के लिए उत्सुक हो उठता है। पास से कोई कह उठता है—जी हां, वसन्त का सम्बन्ध तो समस्त राष्ट्र से है। इसलिये उसका सन्देश भी समस्त राष्ट्र के लिए है।

उत्सव का हर्ष राष्ट्र के जीवन को पूर्ण बना देता है। जैसे सब के अभाव एकाएक दूर हो गये हों। फिर भी वह कौन है जो नये वस्त्रों के

बिना उत्सव में सम्मिलित नहीं हो सकेगा ? उसके मित्र उसे लिवाने आयेंगे तो वह जाने किस बहाने से उनकी बात टाल देगा। गांव की वह गोरी भी, जिसका लहंगा चीथड़े-चीथड़े हो रहा है, नृत्य में नहीं आयेगी। इस गोरी के लिए वसन्त क्या लाया ? रसोई के कसैले धुएं में उसका दम घुटा जा रहा है। जैसे यह भाड़े का जीवन हो और उसे इस घुटन से छुटकारा नहीं मिल सकता। और कुछ न हो, नये वस्त्र तो हों। नये न हों, गुजारे योग्य तो हों। फिर देखिये यह गोरी किस प्रकार नृत्य में रंग बाँध देती है, किस तरह उछलकर ऊंची टहनी पर लगे फूल तक अपना हाथ पहुंचा देती है, किस तरह एक जीवन में सौ जीवनों का उत्साह भर जाता है।

कालिदास का कवि-मानस इसी वसन्तोत्सव की ओर संकेत करते हुए गा उठा था—'आओ, मान-विग्रह छोड़ो; बीता यौवन फिर नहीं आयेगा !—कोकिलों के स्वर-द्वारा मदन का यह अभिमत जान कर कुल बधुएँ लीला-प्रवृत्त हुईं,' देश-देश में, युग-युग में वसन्तश्री नूतन गान का निमंत्रण लाती रही है।

नूतन गान के स्वर बराबर मन में घूमते रहते हैं। कभी-कभी ये स्वर बाहर निकल आते हैं। जो भी इन्हें सुनता है उसी की उत्सुकता बढ़ती है, क्योंकि इन स्वरों में कवि अथवा गायक सजीव और मूर्त्त हो उठा है। अपने गान में कवि अपनी अनुभूति उँड़ेल देता है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के कथनानुसार "आकाश में उड़ते ही पत्नी सोचता है कि वह धरती को पार कर आया है; वह जितना ही उड़ता है, जितना ही ऊपर जाता है, देखता है कि धरती छूट नहीं सकी; आखिर थक कर वह अपने घोंसले में आ बैठता है। इसी प्रकार शायद गान के स्वर भी सोचते हैं कि वे कवि को पीछे छोड़ आये, पर सच तो यह है कि गान के स्वर सदैव कवि अथवा गायक से बँधे रहते हैं।"

जब कवि किसी नूतन गान की रचना करता है तो उसका हृदय खिल उठता है, क्योंकि वह सोचता है कि गान की शक्ति द्वारा उसके व्यक्तित्व में नई शक्ति का संचार हो गया है। कभी कवि से किसी ने पूछा है कि वह नये-नये गान क्यों रचता है ? जब वह गान नहीं रचता उसका व्यक्तित्व सिकुड़ जाता है। चिरन्तन सौन्दर्य की प्रतिमा देख कर कवि चुप नहीं रह सकता। उदयन के सभा-कवि शेखर के समान, जो छाया के समान कुछ देखकर और उसी को लक्ष्य कर राजसभा में अपनी कविताएँ सुनाया करता था, यह तो बहुत आवश्यकन हीं कि कवि इस भ्रम में पड़ जाय कि जो छाया उसने देखी है वह किसकी है।

गान के स्वर सदैव एक-से रहें, यह तो बहुत खटकनेवाली बात होगी। इस तरह तो सभी मौलिकता खत्म हो जायगी। इससे किसी भी कवि अथवा गायक की प्रतिभा प्रगति-पथ पर अग्रसर नहीं हो सकेगी, क्योंकि श्रोताओं को यही आभास होगा कि एक ही पहिया प्रत्येक गान में एक ही धुरी पर घूम रहा है। एक जंग खाई-सी टेक प्रत्येक गान की नीरसता को प्रदर्शित करती रहे—यह तो किसी भी कलाकार के लिये गौरव की वस्तु नहीं होगी। प्रकृति का सौन्दर्य हो चाहे मानव-जीवन की कोई झांकी, चाहे कोई आकांक्षा हो—किसी न किसी नये रंग का प्रयोग अवश्य किया जाना चाहिए। कुचली, सिमटी व्याख्या अथवा अभिव्यक्ति के स्थान पर कला की नस-नस में किसी नूतनता का संचार करने की ओर कवि का ध्यान रहे तो न केवल उसकी रचना इस युग के लिए गर्व की वस्तु होगी बल्कि चिरकाल तक उस रचना की शक्ति कायम रहेगी। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने वसन्त का आवाहन करते हुए उपयुक्त चित्र प्रस्तुत किया है—"एशो एशो वसन्त धरातले, आनो कुहुतान प्रेमगान—"अर्थात् आओ, आओ, हे वसन्त,

पर कुहुतान और प्रेमगान लाओ। आगे चलकर कवि वसन्त से कहता है कि नवयौवन की हिलोर में नवप्राण लाओ। इधर आज का हिन्दी कवि कह उठता है—

आज हैं केसर रंग रँगे वन
रंजित शाम भी फागुन की खिली पीली कली-सी
केसर के बसनों में छिपा तन,
सोने की छांह-सा,
बोलती आँखों में पहले बसन्त के फूल का रंग है।
गोरे कपोलों पै हौले से आ जाती
पहले ही पहले के
रँगीन चुम्बन की-सी ललाई।
आज हैं केसर रंग रँगे
गृह, द्वार, नगर, वन,
जिन के विभिन्न रंगों में है रँग गई
पूनों की चन्दन-चांदनी।

जीवन में फिर लौटी मिठास है
गीत की आखिरी मीठी लकीर-सी
प्यार भी डूबेगा गोरी-सी बाहों में
ओठों में, आँखों में
फूलों में डूबें ज्यों
फूल की रेशमी-रेशमी छाँहें।
आज हैं केसर रंग रँगे वन।[1]

---

[1] गिरिजाकुमार माथुर

जागो, नूतन वसन्त गान

वसन्त के उल्लास में कवि को नूतन गान सूझते हैं। जाड़े भर में गान कहाँ सोते रहते हैं ? कोई मुझ से पूछे तो मैं कहूँगा कि यह तो ऐसे ही हैं जैसे काश्मीर में जाड़ा शुरू होते ही खेतों में बीज बो देते हैं, जब बर्फ पड़ती है ये बीज नीचे दबे रहते हैं, फिर जब ऋतु बदलने पर बर्फ पिघल जाती है नीचे से अंकुर फूटते चले जाते हैं। वसन्त के आते ही मन में दबे हुए भाव उभरते हैं। वैसे तो आमोद प्रमोद का कोई भी उत्सव कवि के लिये प्रेरणा के क्षण प्रस्तुत कर सकता है; शर्त यही है कि कवि जागरूक हो।

लोकगीत भी वसन्त के ऋणी हैं। एक भोजपुरी लोकोक्ति में जनता कह उठी है—'फागुन में बेटवा लगन के बिटिया ना रोकाय !' अर्थात् फागुन का बेटा और लग्न की बेटी नहीं रुकती हैं। यहां यह प्रश्न उठ सकता है कि वे क्यों नहीं रुकते हैं। इसका एक ही उत्तर है कि समाज की मर्यादा ही कुछ ऐसी है और स्वयं समाज को ही यह स्वीकार नहीं। फागुन का बेटा प्रकृति के हर्ष में सम्मिलित हुए बिना नहीं रह सकता, वैसे ही जैसे लग्न की बेटी को अपने नये पथ पर अग्रसर होना पड़ता है।

वसन्त में कामोद्दीपक भाव-प्रदर्शन से तनिक भी संकोच न किया जाय, यह बात लोकगीतों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाती है। उत्साह के ये क्षण फिर कब मिलेंगे ? पूरे एक वर्ष के पश्चात् बसन्त आता है, पर यौवन का उल्लास तो अगले वर्ष तक बहुत कम पड़ जायगा, जैसा कि एक मैथिली लोकगीत में कहा गया है—

ऋतु बसन्त तिथि पंचमि सजनि गे
फुलि गेल सब बनफूल
कोकिल करथि कूक रव सजनि गे

आनन्द-बन में भूल
पान सुमन-रस कर अलि सजनि गे
बिरहिनि दुख केर मूल
सकल सुमन केर सौरभ सजनि गे
लै बह पवन सधूल
हमर कन्त कत लोभित सजनि गे
देल मोहिं सुध बिसराय
जो ऋतुराज सत्य सुनु सजनि गे
प्राणनाथ देता लाय
जैता बसन्त अओता पुनि सजनि गे
गत यौवन नहीं आय
कर्म अभाग्य लिखत अछि सजनि गे
के दुख हमर मिटाय !

—'ऋतु वसन्त की पंचमी तिथि है, ओ सखि !
सभी वनों में फूल खिल गये
कोयल कूक रही है, ओ सखि !
आनन्द वन में भूल-भूल कर
भौंरा पुष्पों का रस पान कर रहा है, ओ सखि
यही तो विरहिणियों के दुःख का मूल कारण है
सभी फूलों का सौरभ, ओ सखि !
पवन धूल पर बिखर रहा है।
मेरा प्रियतम कहीं लुभा लिया गया, ओ सखि !
कि उसने मेरी सुधि बिसार दी ?
यदि ऋतुराज सत्य है तो सुनो, ओ सखि
वह मेरे प्राणनाथ को लिवा लायेगा।

गया हुआ वसन्त फिर लौट आता है, ओ सखि !
गया हुआ यौवन नहीं आता।
विधाता ने अभाग्य लिख दिया, ओ सखि।
मेरे दुःख को कौन मिटायेगा ?'

चतुरानन कवि ने अपने एक गान में 'चन्द्रवदनि नव कामिनि' का चित्र प्रस्तुत किया है जो मैथिली लोकगीत की वस्तु बन चुका है। इस पृष्ठभूमि में वसन्त के शत-शत पुष्प खिल उठते हैं—

चन्द्रवदनि नव कामिनि सजनि गे
यामिनि अति अन्हियारि
सखि संग चललि केलिगृह सजनि गे
कर-पंकज दीप वारि
पवन झकोर जोर बहु सजनि गे
तैं धरु अंचल झाँपि
देखि उरज अति उन्नत सजनि गे
दीप राशि उठु काँपि
धप धप करत झुकत फेर सजनि गे
भाल धुनै शिर माथ
कथि लै दैव जन्म देल सजनि गे
चतुरानन बिन हाथ

—'वह चन्द्रवदनि नव कामिनि, ओ सखि,
अत्यन्त अंधेरी रात में
सखियों के साथ केलिगृह की ओर चल पड़ी, ओ सखि !
कमल जैसे हाथ में दिया जलाकर रख लिया,
पवन का झोंका दीये को झकझोर डालता है, ओ सखि !
इसलिये उसने इसे अंचल में ढांप लिया

उन्नत उभरे हुये उरोज देखकर, ओ सखि !
दीपशिखा कांप उठी
दीये की लौ भी झप-झप कर चमक उठती है,
कभी झुक जाती है, ओ सखि !
सिर धुन-धुन कर पछताती है
कैसा जन्म दिया इस दीये को भगवान् ने, ओ सखि !
चतुरानन कहता है, बिन हाथों के !'

लोककवि के कथनानुसार दीये के भी दो-दो हाथ होते तो गान-वस्तु में एक नया रंग झलक उठता।

एक भोजपुरी लोकगीत में वसन्त का दूसरा ही चित्र अंकित किया गया है—

रामा चइत कै निंदिया बड़ी बइरिनिया, हो रामा
सुतलो बलमुआ नाहीं जागे हो रामा,
सुतलो बलमुआ, हो रामा !

रामा गोड़ तोर लागीलें लहुरी ननदिया, हो रामा
रचि एक भइया तू जगावउ हो रामा,
रचि एक, हो रामा !

रामा कइसे कै भउजी भइया के जगाई ए रामा,
मोर भइया निंदिया भइले मतवाला ए रामा,
मोर भइया, हो रामा !

रामा भरि छीपा चनन रंगरेले सोहागिन ए रामा

छींटि-छींटि आपन पियवा जगावे, ए रामा
छींटि छींटि हो रामा !

—'चैत की नींद बड़ी बैरिन होती है, हे राम !
सोया हुआ बालम जागता नहीं,
हे राम, सोया हुआ बालम।
छोटी ननदी, तुम्हारे पैरों पड़ती हूं, हे राम !
थोड़ा-सा, अपने भैया को जगा दो, हे राम,
थोड़ा-सा हे राम !
भौजी, मैं भैया को कैसे जगाऊँ हे राम !
मेरा भैया नींद में मतवाला हो गया, मेरा भैया।
मेरा भैया, हे राम !
सोहागिन ने थाली भर कर चन्दन घिसा, हे राम !
इसके छींटे मार-मार कर वह अपने प्रियतम को जगाती है,
छींटे मार-मार कर हे राम!'

वसन्त के स्वरों ने भोजपुरी 'विरहा' में भी अनेक स्थलों पर नये प्राणों का संचार किया है—

काँचे इ बंसिया वनवल कन्हैया जी
छेद कइल तू दुइ चारि
बाजु बाजु बंसिया छत्तिस गो रागवा
नाहिं देबि जमुनवा में फेंकि

—'कच्चे बांस की तुमने बांसुरी बनाई, कन्हैयाजी !
उसमें दो-चार छेद कर दिये
बज उठो, बज उठो, ओ बांसुरी, अब छत्तीस रागों में
नहीं तो मैं तुम्हें यमुना में फेंक दूंगी।'

वसन्त अपने ही उल्लास से महान् है। इसी उल्लास के स्पर्श द्वारा लोक-मानस में नूतन गान जाग उठता है। बसन्त का गूढ़ और भेद-भरा गान बांसुरी के स्वरों में युग-युग से रचा हुआ है। यह गान हृदय की गहराइयों से जन्म लेता है; फिर यह जल-स्थल, आकाश को छू लेता है।

किससे पूछूं कि बचपन में सुने हुए वसन्त के गान भी आज पुराने क्यों नहीं लगते? उनमें ऐसी क्या बात है, जिससे वे आज भी नये मालूम होते हैं? वही ठेठ पंजाबी के सीधे-सादे शब्द, वही शब्दों को उड़ा ले जाने वाले स्वर—

पिप्पल दिया पत्तिया वे
केही खड़ खड़ लाई ए?
झड़ पो पुराणिया वे
रुत्त नमियां दी आई ए।

—'ओ पीपल के पत्ते!
क्या खड़खड़ लगा रखी है?
झड़जा ओ पुराने पत्ते!
नये पत्तों की ऋतु आ गई है।'

पीपल का पेड़ जाने कब से खड़ा है। ठीक समय पर पुराने पत्ते गिरने शुरू होते हैं। फिर नई कोपलें निकलती हैं और समूचा पेड़ नये पत्तों से लहलहाने लगता है। पुराने पत्ते गिरे नहीं और नये पत्ते आये नहीं—इससे तो पीपल की सुन्दरता ख़त्म हो जाय। क्या प्रकृति का यह विधान मानव संस्कृति के लिए तनिक भी संकेत नहीं करता? छोड़ने और ग्रहण करने की शक्ति ही जीवन की प्रतीक हो सकती है—पीपल का पेड़ अपने पत्तों को हिला-हिलाकर यही तो कहना चाहता है। मज़े की बात यह है कि यदि वनस्पति नूतनता चाहती है तो हाड़ और रक्त-मांस भी

नूतनता का आवाहन करते हैं।

काका कालेलकर ने 'हिमालय की यात्रा' में लिखा है—"रास्ते में एक तरह के फूल खिल रहे थे। उनका आकार बारहमासी के फूलों जैसा था। रंग खूब उबाले हुए दूध की मलाई की तरह कुछ पीला। सुगन्ध की मधुरता की तो बात ही क्या? सुगन्ध गुलाब से मिलती-जुलती पर गुलाब के समान उग्र नहीं। इन लज्जा-विनय-सम्पन्न फूलों को देखकर मैं प्रसन्न हुआ। ऐसे सुन्दर और आतिथ्यशील फूलों का नाम जाने बिना मुझसे कैसे रहा जाता?...पहाड़ की एक पगडंडी से कोई पहाड़ी से उतरता हुआ दिखाई दिया। उस पहाड़ी से मैंने उन फूलों के विषय में कई प्रश्न पूछे। उसने पहाड़ी में जवाब दिया। परन्तु मुझे विश्वास नहीं कि वह मेरे प्रश्नों को समझ सका होगा। मैं तो उसके जवाब का एक अक्षर न समझ सका। किन्तु इस फूल का नाम तो मुझे मिल ही गया। असीरिया की शरशीर्ष लिपि में लिखे हुए शिलालेख पढ़कर कोई विद्वान् उनका अर्थ लगाने के लिए जितना प्रयास कर सकता है, उतने ही प्रयास से मैंने पता लगाया कि फूल का नाम 'कूजा' था। मालूम होता है पहाड़ी भाषा में यह शब्द बहुत सुललित समझा जाता होगा। पर स्वयं मुझे उस नाम ने बिल्कुल मोहित नहीं किया।" हिमाचल के 'कूजा' फूल की जितनी प्रशंसा की गई है उसे देखते हुए 'कूजा' शब्द के सम्बन्ध में काका कालेलकर का यह कथन कि इस नाम ने उन्हें तनिक भी मोहित नहीं किया, अवश्य कुछ खटकनेवाला वक्तव्य है। हमारी संस्कृति इतनी ग्रहणशील होनी चाहिए कि हम 'कूजा' शब्द को अपना लें और इस प्रकार नूतनता का स्वागत करें। हिमाचल का 'झूरी' गान आज भी 'कूजा' फूल के खिलते ही मुखरित हो उठता है—

फूली करो फूलए फूली करो ला कूजा

जेती लागो ममता झेलू ओ न दूजा

—'फूल ही फूल खिल गये, कूजा भी खिल गया।

जहाँ भी प्रेम होता है वहाँ किसी दूसरे को बरदाश्त नहीं किया जा सकता!'

कूजा के फूलो! तुम्हारे स्पर्श से शिमला का लोकगीत धन्य हो उठा। तुम्हारी सुगन्ध तुम्हें मुबारक, तुम्हारा रंग तुम्हें मुबारक। बस एक ही फूल काफ़ी है, दूसरा नहीं। दूसरे को तो बरदाश्त ही नहीं किया जा सकता।

वसन्त आ गया। फूल खिल गये। गान मुखरित हो उठे। प्रकृति के मुख पर आज कोई नूतन उल्लास लिपिबद्ध हो रहा है—जागो, नूतन वसन्त-गान!

ईतिहास बदलता है

ग्राम का नाम नहीं बताऊंगा। बस इतना ही कहना काफ़ी है कि मेरा जन्म एक ग्राम में हुआ। वह एकदम छोटा ग्राम भी नहीं है। सच पूछो तो वह एक कस्बा है। वहां डाकखाना भी है और थाना भी, अस्पताल भी है और एक मिडिल स्कूल भी। बस दस-दस बारह-बारह कोस तक न कोई पक्की सड़क है, न रेल का स्टेशन। कहते हैं पुराने ज़माने में यहां बहुत बड़ा जंगल था। इसलिए आस-पास के कस्बोंवाले हँसी-मज़ाक में इधर के रहनेवालों को जंगली कह कर खिल्ली उड़ाया करते हैं। इस हिसाब से तो मैं भी जंगली हूं।

उस समय मैं दस वर्ष का था। जब मास्टरजी ने यह ख़बर सुनाई कि जर्मनी हार गया और अंग्रेज़ जीत गया, बस उसी समय मिठाई मंगवाई गई। सब लड़कों को स्कूल की सभा में यही बताया गया कि अंग्रेज़ की विजय हमारी विजय है।

फिर थोड़े दिनों बाद रियासत के महाराज हमारे ग्राम में पधारे। मास्टरजी ने अंग्रेज़ की विजय की ख़ुशी में दोबारा मिठाई मँगवा कर

लड़कों में बाँटी, और उन्हें जलूस में महाराज के दर्शन कराने ले गये। इन लड़कों में मैं भी था। उस दिन स्कूल पर यूनियन जैक लहरा रहा था, और हम हाथों में काग़ज की झंडिया थामे जलूस में चले जा रहे थे। झंडिया यूनियन जैक के रंगों से मिलती-जुलती थीं। महाराज हाथी पर सवार थे। हमारे मास्टरजी बार-बार हमें बताते रहे कि महाराज बहुत खुश नज़र आते हैं क्योंकि उन्हें अंग्रेज़ की विजय की सबसे ज्यादा खुशी है।

महाराज आये और चले गये। पता चला कि महाराज ने पास के रेलवे स्टेशन तक दस कोस लम्बी पक्की सड़क बनाने का हुक्म दे दिया है। मैंने अपनी आँखों से देखा कि रास्ता ठीक किया जा रहा है और कंकड़ बिछाया जा रहा है। पर यह सब कढ़ी का सा उबाल ही निकला। जहां-जहां कंकड़ बिछाये गये थे या कंकड़ के ढेर लगाये गये थे, वहीं काम रुक गया। लोग हँस-हँस कर कहने लगे—"रियासती मामले ऐसे ही होते हैं। पर मास्टरजी बराबर यही कहते रहे—सड़क ज़रूर बनेगी। अंग्रेज़ की विजय की खुशी में महाराज सड़क ज़रूर बनवायेंगे।"

अगले वर्ष अमृतसर से ख़बर आई कि जलियांवाला बाग में गोलियां चलीं और सैकड़ों लोग घायल और शहीद हो गये। हमने मास्टरजी से कहा कि अंग्रेज़ की विजय से सड़क नहीं बन सकती तो न बने, पर ये गोलियां क्यों चलती हैं। मास्टरजी इधर-उधर ताकने लगे। बोले—"सड़क ज़रूर बनेगी, और अंग्रेज़ के राज में सब सुखी बसेंगे।"

घर पर मेरे बूढ़े दादा ग़दर के दिनों की कहानियां सुनाया करते थे। दादा का तो यही कहना था कि अंग्रेज़ बड़ी मुश्किल से संभल पाया था। मुझे याद है कि उन्होंने एक बार कहा था कि एक दिन रात के अंधेरे में अंग्रेज़ को मजबूर होकर अपना रास्ता नापना पड़ेगा, क्योंकि हमारे देश में महात्मा गांधी का जन्म हो चुका है।

इतिहास बदलता है

बूढ़े दादा की आँखें कमज़ोर हो गई थीं। स्कूल से आकर मुझे ही उन्हें अख़बार सुनाना पड़ता। अख़बार की ख़बरें मैं पढ़ता। साथ-साथ दादा टीका-टिप्पणी करते जाते। अजब अन्दाज़ से सिर हिला-हिला कर वे कहा करते—"अंग्रेज़ को अवश्य जाना पड़ेगा।"

स्कूल में मास्टरजी बराबर अंग्रेज़ की प्रशंसा किये जाते। वे हमें अंग्रेज़ी राज की बरकतें याद करने को कहते। जैसे परीक्षा में यह प्रश्न आना आवश्यक हो और जो लड़का इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकेगा वह अवश्य पास होने से रह जायगा। मास्टरजी को चिढ़ाने के लिए मैं उन बातों को छेड़ देता जो घर पर मैं दादाजी के मुँह से सुनता था। मास्टरजी गरज कर कहते—"तुमने फेल होने की ठान ली है। अरे पागल, परीक्षा में यह सब मत लिख देना। एक भी नम्बर नहीं मिलेगा।"

मिडिल स्कूल से हाई स्कूल में जाने पर तो मानो मेरी दुनिया ही बदल गई। अपने ग्राम से बारह कोस कच्चा रास्ता तै करने पर एक पक्की सड़क मिलती थी। वहाँ से इक्के पर सवार होकर दस मील की यात्रा करने के बाद वह नगर आ जाता था, जहाँ यह हाई स्कूल था। वहाँ रेलवे स्टेशन भी था। हमारे साथ पढ़नेवाले लड़कों में अधिक गिनती उन्हीं लड़कों की थी जो मेरी तरह किसी न किसी ग्राम से आते थे।

जलियांवाला बाग़ में गोलियां चलने के बाद कांग्रेस का जो जलसा अमृतसर में हुआ था उसमें तिलक महाराज भी आये थे। उस जलसे की ख़बरें मैंने अपने ग्राम में ही पढ़ी थीं, और दादा के मुख से इन ख़बरों पर टीका-टिप्पणी भी सुनी थी। दादा यही कहा करते थे कि तिलक महाराज के बाद महात्मा गांधी ही सबसे बड़े नेता माने जायँगे। मैंने न तिलक महाराज के दर्शन किये थे न महात्मा गांधी के। मैं तो इसी बात पर हैरान था कि दोनों नेताओं को देखे बिना ही दादा ने

यह फैसला कैसे कर दिया कि महात्मा गांधी ही सबसे बड़े नेता माने जायँगे। तिलक महाराज के स्वर्गवास होने की ख़बर पढ़कर सुनाते समय मेरी आँखों में आँसू आ गये थे। उस दिन दादा ने कहा था—"शायद भगवान् को यही मंजूर था। अब देखना सारे देश में महात्मा गांधी का बोल-बाला हो जायगा!"

अब यहां हाईस्कूल में एक-दो लड़के ऐसे भी थे जो लाहौर, अमृतसर में रह चुके थे वे कहते थे कि उन्होंने महात्मा गांधी के दर्शन किये हैं। उनकी बातें सुनते-सुनते मेरा मन उछल पड़ता था। कभी-कभी तो मन में आता कि स्कूल से छुट्टी लिए बिना ही रेल के डिब्बे में जा बैठूं और महात्मा गांधी जहां भी हों सीधा वहीं पहुंचूं, और उनके दर्शन करने के बाद कोई दूसरी बात करूँ। आखिर मैंने सुना कि महात्मा गांधी गंगा के किनारे गुरुकुल कांगड़ी की रजत-जयन्ती पर पधार रहे हैं। मैं भी वहाँ पहुंचा और महात्मा गांधी का दर्शन करते ही मेरा मन खुशी से उछल पड़ा। हाई स्कूल से कालेज में जाने पर तो मेरी दुनिया और भी बदल गई। जिस जगह हाईस्कूल था वहीं से रेल में सवार होकर मैं लाहौर की यात्रा करता था जहां यह कालेज था। हमारे ग्राम के पास दस-दस बारह-बारह कोस की दूरी पर दो रेलवे स्टेशन पड़ते थे, वहां से ही रेल में सवार होना सम्भव था। पर मुझे यही पसन्द था कि ग्राम का कच्चा रास्ता तै करके पक्की सड़क पर इक्के की सवारी करूं और फिर रेल पर सवार हो जाऊं। सच बात तो यह है कि इधर से रास्ता कुछ सीधा पड़ता था और पैसे कम खर्च होते थे। हाँ, कभी-कभी यह ख़याल ज़रूर आता कि काश! वह सड़क तैयार हो गई होती जिसे महाराज ने हमारे ग्राम से पास के रेलवे स्टेशन तक बनवाने का हुक्म दिया था। यह सड़क बन गई होती तो कच्चे रास्ते पर पैदल चलने या घोड़े अथवा बैलगाड़ी की सवारी करने की

बजाय इक्के पर बैठना आसान हो जाता। हाँ, लगे हाथ यह भी बता दूं कि कालेज से पहली बार छुट्टियों में घर आया तो दादा बड़े चाव से बोले—"सुना है महात्मा गांधी बहुत दुबले-पतले हैं। पर अंग्रेज़ सरकार उनके सामने काँपती है, यह भी ठीक है। महात्मा गांधी स्वराज्य चाहते हैं। एक दिन स्वराज्य ज़रूर मिलेगा। स्वराज्य तो समझो उसी दिन से शुरू हो गया जिस दिन से देश में महात्मा गांधी का जयजय-कार गूंज उठा। मैं तो कहता हूँ कि महात्मा गांधी एक दिन हमारे ग्राम में भी आयेंगे। तुम उनसे मिलो तो मेरी ओर से निमन्त्रण ज़रूर दे देना। कहना, यह ठीक है कि हमारा गांव रियासत में है। रियासत से काहे का डर, जब महात्माजी अंग्रेज़ बहादुर से भी नहीं डरते।"

मैंने दादा से अब तक वह बात छुपाकर रखी थी कि मैंने घरवालों को बताये बिना ही गुरुकुल कांगड़ी की रजत-जयन्ती के अवसर पर महात्मा गांधी के दर्शन किये थे। अब जब मैंने वह बात दादा से कही, तो उन्होंने उठकर मुझे सीने से लगा लिया और बोले—"अब मैं तो महात्मा गांधी के दर्शन उसी समय कर सकता हूं जब वह हमारे गांव में आयें।"

उस दिन वह बड़े मास्टरजी भी उधर आ निकले। मैंने पूछ लिया—"क्यों मास्टरजी, क्या आप अभी तक लड़कों को अंग्रेज़ी राज की बरकतों वाला सबक पढ़ाया करते हैं?"

इस पर दादा को हँसी आ गई। बोले—"मास्टरजी, इस लड़के की बातों का बुरा न मानना। इतना तो आप भी मानेंगे कि महात्मा गांधी की विजय अवश्य होगी।

मैंने पूछ लिया—"क्यों मास्टरजी, जिस दिन महात्मा गांधी की विजय होगी, क्या आप लड़कों में उसी तरह लड्डू बाँटेंगे जैसे जर्मन या अंग्रेज़ की जीत होने पर बांटे थे? हाँ, मास्टरजी, स्वराज्य ज़रूर

आयेगा। कहिए जिस दिन स्वराज्य मिला, उस दिन भी लड़कों का जलूस निकालोगे?"

मास्टरजी ने इसका कुछ उत्तर न दिया। दबी ज़बान से उन्होंने इतना ही कहा—"रियासत का मामला है। यहां ऐसी बातें ऊंची आवाज़ से नहीं की जानी चाहिए।"

मैंने फिर कहा—"मास्टरजी, महाराज ने हमारे ग्राम के पास के रेलवे स्टेशन तक सड़क बनवाने का हुक्म तो दिया, पर यह देखना भूल गये कि सड़क बनी या नहीं। जहां कंकड़ों के ढेर लगाये गये थे वहीं पड़े रह गये, बिछा हुआ कंकड़ बेकार चला गया। जब स्वराज्य आयेगा तो ऐसी धाँधली नहीं चलेगी।" दादा हँस कर बोले—"हां हां, तब ऐसी धांधली बिल्कुल नहीं चलेगी, मैं तो कहता हूँ मेरे जीतेजी स्वराज्य मिल जाय और महात्मा गांधी का जलूस हमारे गांव में भी निकले।"

मैंने पलटकर कहा—"महात्मा गांधी हाथी पर नहीं बैठेंगे जैसे हमारे महाराज बैठे थे। वे तो ज्यादा से ज्यादा बैलगाड़ी पर बैठ सकते हैं।"

× × × ×

यह बहुत दिनों की बात है। अब मेरे दादा जीवित नहीं। स्वराज्य तो मिला, पर हमारे ग्राम में महात्मा गांधी एक बार भी न पहुंच सके। आज गांधीजी जीवित होते तो मैं उन्हें अपने ग्राम में चलने का निमन्त्रण अवश्य देता। मेरा निमन्त्रण वे अवश्य स्वीकार करते, ऐसा मेरा विश्वास है। मैं उन्हें वह कंकड़ दिखाता जिसके अवशेष अब भी कहीं-कहीं रह गये हैं। मैं उन्हें बड़े मास्टरजी से भी अवश्य मिलाता जो अब स्कूल से पेन्शन पा चुके हैं। अंग्रेज़ी राज की बरकतों वाले पाठ की बात भी मैं अवश्य छेड़ देता। मुझे पूरा विश्वास है, गांधीजी हँस कर कहते—"अब यही पाठ दूसरे रंग में

पढ़ाया जायगा। तुम्हारे गांव के पास के रेलवे स्टेशन से मिलानेवाली सड़क अब एक बार बननी शुरू होकर बीच ही में नहीं छोड़ दी जायगी। जनता स्वयं देख लेगी कि इतिहास बदलता है।"

काश्मीरी कविता

काश्मीरी कविता महजूर की चिर-ऋणि रहेगी जिसने न केवल उसे आध्यात्मिकता की कारागार से मुक्त किया, बल्कि इसे जीवन के नये पथ पर अग्रसर किया। यद्यपि बलराज साहनी को महजूर से शिकायत है कि उसने पटवारी के धन्धे से निबट कर अपने जन्म-ग्राम में जा कर पीर का धन्धा क्यों सम्भाल लिया है; उसका मत है कि इस प्रकार महजूर एक प्रतिगामी शक्ति बन कर रह गया है। सन् १९३४ मे मैं और बलराज साहनी एक साथ महजूर से मिले थे और काश्मीर में उसकी बढ़ती हुई लोकप्रियता देखकर हम चकित रह गये थे। हमें उसकी कविता में जागृति के नये स्वर सुनाई दिये थे। इसीलिए हमने उसकी कविता की टोह लगाई और इसे विश्व-साहित्य के सम्मुख प्रस्तुत करने का निश्चय किया। जो हो, मैं तो महजूर को आज भी वह श्रेय देने में संकोच नहीं कर सकता जिस पर सदैव के लिए उसका अधिकार हो चुका है।

वीर विश्वेश्वर ने ठीक ही लिखा है—"महजूर के लिखे प्रेम-गीत देश

के बच्चे-बच्चे की ज़बान पर चढ़ गये। 'गुलाल' (गुले लाला) 'यम्ब-रज़ल' (नरगिस) और 'गुलाब' ने उसके गीतों को सुगन्ध प्रदान की। 'बुलबुल', 'वनहोर' (वन की मैना), और 'पोशनूल' (पपीहा) ने कवि की वीणा में एक झंकार पैदा की और वह 'लोल' (प्रेम) के 'अफसाने' कह-कह कर अपने 'बे आर मदनवार' (निर्दय प्रेमी) और 'दिलाराम' के लिए 'मस' (हाला) के प्याले भरने लगा। लेकिन समय आने पर वह हाला और प्याले के बन्धन से बाहर आकर नये ढंग की कविता करने लगा। परिस्थियों को देखकर उसे नये ढंग और नई वाक्-पद्धति की आवश्यकता अनुभव हुई।"

सन् १९४९ में काश्मीर में महजूर से भेंट न हो सकने का मुझे सदैव खेद रहेगा। रह-रह कर महजूर की कविता मेरी कल्पना को छूती रही—

वुछित महजूर नविसरसस कुन
नवुयु रंगा ह्यवान हावुन,
नविस समयस नविस दौरस
नवुय गुफ़तार आसुन गोछ।

—'महजूर को नया रस लाना पड़ रहा है
नये युग को देख कर
नये समय और नये युग में
नई ही वाणी होनी चाहिए!'

सन् १९४९ में काश्मीर में महजूर से भेंट न होने की कमी काश्मीरी कवि आज़ाद से मिल कर पूरी हो गई, जिसने महजूर से भी एक पग आगे बढ़ कर नये युग का स्वागत किया है—

वतनुके सोज़ लोग म्यूठ आज़ादस,
त्रॉविन सांरी हावस ये,
बागंचि मसवल खांस्य ह्यथ प्राराम
ब्यथि आंसि कुन शिथि ना ये ।

—'देश का संगीत आज़ाद को मीठा लगा
उसने सारी हवसों को त्याग दिया,
अप्सराएं प्याले हाथ में लिये उसकी प्रतीक्षा करती रह गईं—
शायद कवि हमारी ओर फिर मुड़ कर आये ।'

कवि महजूर ने 'ग्रीस कूर' (किसान-कन्या) और 'काशिर जनान' (काश्मीरी नारी) के मुख से स्वतन्त्रता की वाणी प्रस्तुत की—

क्याह कर व्यसिये लानि निस न्यायस
यावन रायस छनि म्यन्नि माय
रंग रंग दोख त दाग्र चालान आयस
लोलस ध्यस करान लोल मत लाय

—'भाग्य की इस विडम्बना का क्या करूँ, सखि ?
मेरे यौवन के राजा को मुझ से प्रेम नहीं
मैं हर प्रकार के दुःख सहती आई हूँ
मैं प्यार को उठाये-उठाये फिरती हूँ ।'

सचमुच महजूर ने सारी काश्मीरी जनता की विवशता और दीनता की ओर संकेत किया है जो काश्मीरी नारी के समान विपत्तियाँ झेलती आई है। वीर विश्वेश्वर के कथानुसार "महजूर का यह गीत देश की जागृति का वह अग्रचिन्ह है जिसका अनुसरण इस युग के अन्य कवियों ने किया जिन्होंने 'लोल'

और 'मस, 'दिलाराम' और 'मदनवार' को एक ओर छोड़ कर अपनी कविता के लिए सामाजिक और राष्ट्रीय विषय चुन लिये।"

आज़ाद के शब्दों में गुलामी का चित्र देखिए—

यिमन शूबिहे जाय थावन्य खोरन तल,
कलस प्यठ तिमन खार नावान गुलामी।
वलेकिनछु यलि वक्त वातान बराबर,
पनुन नाव पानै मिटावन गुलामी।

—'जिन्हें पैर के नीचे बिठाना चाहिये था
गुलामी के कारण उन्हें सिर पर बिठाना पड़ता है
जब समय पक जाता है
गुलामी स्वयं अपना कलंक मिटाती है'

मिर्ज़ा आरिफ़ ने एक कविता में तपती गर्मी और कड़ाके की सर्दी में नंगे पैरों पीर पांचाल के उस पार चले जानेवाले मज़दूर का चित्र अंकित किया है—

वानहोज बालस कोर खोतुख
खोर ददी मा ?
शीन प्येठ्य ननवोर खोतुख
खोर ददी मा ?
यति ही त बबंर छाव् ब्ययव
क्राव ब्ययव जी
परदेस छ्यनिथ योर खोतुख
खोर ददी मा ?

—'पीर पांचाल की चोटी पर तू क्यों चढ़ आया ?

तेरे पैर गल तो नहीं गये ?
तू बर्फ के ऊपर से नंगे पैरों चल के आया
तेरे पैर गल तो नहीं गये ?
यहां ग़ैरों ने तुम्हारे सुगन्धित फूलों—
सुंबल और रीहान की महक लूट ली,
उन्होंने खूब धन कमाया
और तू परदेस से थका हारा ख़ाली हाथ
यहाँ चला आया
तेरे पैर तो नहीं गल गये ?'

मिर्ज़ा आरिफ की एक दूसरी कविता में मज़दूर का चित्र और भी गहरा हो गया है—

आग़ सुन्द तदवीर छुस तकदीरि सानी छुस न ह्यस
छ्यस अछुन बोछ, मूदमुत दिल, दरवर उमरे निरानु
बंदिशन हंज होल गोमच, जानि आज़ादी सु क्याह ?
रास वाल्यन निश ज़बरदस्त सह पनुन मुंह रावरान
अक़ल रावान, दिल मरान,
मज़हब डलान फितरत, हलान,
बुछ गुलामी आरिफो !
कम कम मर्ज़ पैदा करान ।

—'मालिक की बात इसकी किस्मत है, उसे कुछ भी होश नहीं, उसकी भूख मर गई, निर्जीव सा दिल लिये आयु भर ये ठोकरें खायगा। उसे बन्धनों को आदत है, आज़ादी क्या होती है, वह क्या जाने ? शेर के मुंह में लगा दें तो उसकी क्या पेश चलती है ?

अक्ल मिट जाती है, दिल मर जाता है
मजहब गिर जाता है, प्रकृति बदलती है
ऐ आरिफ, देख, गुलामी
क्या-क्या मर्ज़ पैदा करती है।'

महजूर की एक कविता में इन्कलाब की आवाज़ बहुत ऊंची उठ जाती है—

अमीरस आश तै शादी
गरीबस खान बरबादी,
थिथिस मगरूर आसन वाल्य सुन्द
नावय मिटावुन छुस ।
—'अमीर के लिये विलास हो—
ग़रीब की झोंपड़ी भी बरबाद हो जाय
ऐसे मग़रूर अमीर का
अब मैंने नाम ही मिटा डालना है।'

यह कहा जा सकता है कि जब सर्वप्रथम सन् १९३९ में काश्मीर की प्रतिनिधि संस्था नैशनल कान्फ्रैंस ने उत्तरदायी शासन पद्धति की मांग की तो काश्मीरी कवि देश को दीनता के गर्त से निकालने के लिए जनता में आशा और स्फूर्ति भर देने की आवश्यकता अनुभव करने लगे। उस समय महजूर एक क्रान्तिकारी कवि के समान एक नूतन भविष्य को उभरते देख कर गा उठा—

बलो ह्य बाग़बानो नौबहारुक शान पैदा कर
फोलन गुल गथ करन बुलबुल तिथी सामान पैदा कर,
चमन वैरान रिवान शबनम चटिथ जाम परेशां गुल

गुलन तै बुलबुलन अन्दर दुबारा जान पैदा कर!

—'आ, ऐ माली, आनेवाली बहार के लिए नई शान पैदाकर—
फूल खिल उठें, बुलबुलें चहक उठें, ऐसे साधन जुटा,
चमन उजड़ रहा है, शबनम रो रही है, फूलों के जाम टूट गये।
फूलों और बुलबुलों में फिर से जीवन भरदे।'

आज के काश्मीरी कवि को ललितादित्य, ताज़ीभट्ट, मुबारकखां जयमाल, नन्दराम और ग़नी आदि का स्मरण हो आता है। महजूर के समान आज़ाद भी कह उठता है कि कल्हण और बड़शाह की सन्तान के साथ जो अन्याय हो रहा है, वह उसे सह्य नहीं—

औलाद बड़शाह ह्यू रोछ्मुत येम्य कोछ्के मंज़
बोछ्ि सीत्य मरान वतन प्यठ तिहुँदी अयाल आस्या
कल्हण, ग़नी त सर्फ़ी सैराब कर्य येम्य आबन
सुय आब सांनि बापत ज़हरे हिलाल आस्या?

—'जिस धरती ने बड़शाह जैसी सन्तान को गोद में पाला
उसी के वंशज, उसी का कुटुम्ब भूख से मरे, तड़प कर जान दे दे।
जिस धरती के जल ने कल्हण, ग़नी और सर्फ़ी को जीवन दिया
क्या वही जल हमारे लिये हलाहल बनेगा?'

काश्मीरी कविता के मंच पर मज़दूर कवि आसी का पदार्पण एक बहुत बड़ी घटना है। अपने देश को वह चीन और खुतन से अधिक सुन्दर मानता है फिर भी उसका देश धरती का स्वर्ग नहीं है। इस देश के वासी आठ पहर मज़दूरी करके भी भर पेट भोजन प्राप्त नहीं कर पाते। एक स्थान पर आसी कहता है—

अमा येतिक बसन वाल्य,

.ज़ुलमन तशदुद्दन गाल्य
वुजक्यन छ्य गाड्डि कोमच्
गामच उलार लतिये।
ज़ीनिथ जखित ग़रीबन,
पलि मा छ्य ज़ाँह प्यवान हार
शुर बाच अहन्ध छि गामत्य,
.ज़ुल्मन शिकार लतिये।

—'इस देश के वासियों को
अन्याय और क्रूरता ने मिटा डाला,
देश की गाड़ी बुरी अवस्था में पड़ी है
परिश्रम करके कमाने पर भी
इन ग़रीबों के पल्ले एक भी कौड़ी नहीं पड़ती
इनके बाल-बच्चे ज़ुल्म के शिकार बन गये हैं।'

महजूर भी एक कविता में कहता है—

सुबह छुम, बाग़ छुम मस्तान दिल छुम ताज़ यावुन छुम
बहारस दाद ह्योन छुम शोक़ सान गुलज़ार छावुन छुम
छि होछ्ु मचु पोशि थरि बाग़स, कमी आबीस गामच नागस
खसुन छुम अब्र लागिथ आस्मान बारान त्रावुन छुम

—सुबह है, बाग़ है, दिल मस्ताना है, नई ज़वानी है,
मुझे बहार की दाद लेनी है, गुलज़ार में आनन्द मनाना है,
चमन के पौधे मुरझा गये, झरने में पानी की कमी हो गई।
मुझे बादल बनकर आकाश पर चढ़ना है और पानी बरसाना है।'

सहमी हुई बुलबुल के समान काश्मीरी कवि अब दीनता की भावना

त्याग देना चाहता है। एक स्थान पर महजूर कहता है—

चायि पश्य लोत पाठ्य बाग़स
न्याय फल छोकुरुक चोपार्य,
अस्य चुवान रूद्य पानवाज
निम पोश चटिय चटिय गयि निवान
हेरि वायु ल, ब्रोरू बोन,
ज़ागान यथ स्यानिस ज़ुवस,
पोशु लंजि छायि थवि थवि,
कूत काल बच रावि पान,
छ्स छंबन छारन दोफन तल
चूरि गंज़रावान साथ,
बागवान खामोश रूज़िथ
स्याज बुरवादी वुछान।

—'मेरे बाग़ में चुपके से ढोर घुस आये
ग़ैरों ने यहाँ बस फूट बोई
हम आपस में लड़ते-झगड़ते रहे
वे हमारी कलियों को चुन-चुन कर ले गये
ऊपर गिद्ध और नीचे ऊद बिलाऊ मेरी ताक में बैठा है
पौधों और लताओं की छाया में
कब तक अपने आपको छिपाऊँ ?
गड्ढों और खुड्डों में चुपके-चुपके
मैं अपना समय बिताता हूँ
माली चुप साधे मेरी बरबादी देख रहा है।'

सन् १९४६ में 'काश्मीर छोड़ दो' आन्दोलन में काश्मीरी नेताओं

को जेल की कोठड़ियों में ठूँस दिया गया था। उस समय जनता को अनेक अत्याचार सहने पड़े थे। स्वतन्त्रता की बलि-वेदी पर अनेक बलिदान हुए जिन से इस आन्दोलन में नई हलचल मच गई। सत्रह मास के अनवरत संघर्ष के पश्चात् काश्मीर स्वाधीनता के लक्ष्य के निकटतर आने लगा। उस समय कवि आज़ाद ने इस विजय की भविष्यवाणी करते हुए कहा था—

रयत कोल वातिन मूल मोंज व्यसरन तुलकतरचि मंदोरयै,
शीनक्यन बालन छलि-छलि वालन सोंतकालचि गगरायै,
नप-नप करवुन माल कूत काल पकि द्रोगि मोल अपज़िकी वानै,
सरतल कहवच प्यठ यलि खारन मोल तल वसि मुल मायै।

—'गरमी के आते ही ये बर्फानी अटारियां गिर जायेंगी।
वर्षा का घन-गर्जन बर्फानी पर्वतों को एक-एक करके गिरा देगा।
झूठी दुकानों पर यह चमकीला माल कब तक महंगे दामों बिकेगा?
पीतल को कसौटी पर परखा जायगा तो मुलम्मा उतर जायगा।

मिर्ज़ा आरिफ ने वीर महिला 'मुख्ती' के बलिदान पर एक सुन्दर कविता की रचना की थी। मुख्ती अनन्तनाग में महिलाओं और पुरुषों के एक सम्मिलित जुलूस का नेतृत्व करती थी। उसकी बच्ची उसके वक्ष के साथ चिमटी हुई दूध पी रही थी, जब सहसा एक गोली ने दोनों की जान ले ली। इस पर मिर्ज़ा आरिफ का कवि-मानस कह उठा—

माज्यन यति आसि यिछ दिलावरिये
कुस करि तति चाकरिये

रोज्या बन्द या बन्द पर वरिये
मुख्त हार्य पोख्त का र सोन्दर्य ।
—'जिस देश में माताएं इतनी बहादुर हों
वहाँ कौन दास बन कर रह सकता है ?
क्या वहाँ दीनता या शोषण रह सकते है ?
ओ कर्मशील सुन्दरी, तू मोतियों की माला है—

काश्मीरी स्वतन्त्रता का कारवाँ आगे बढ़ता गया । मिर्ज़ा आरिफ़ के शब्दों में जागृत काश्मीर की वाणी प्रतिध्वनित हो उठी—

पज्युक नार दिथ शेर पानस रवाँ गौ
ख्यलिस राम हूना हकान गौ ब्रकान गौ
शिकंजन अंदर नवजवानन कसान गौ
मगर कार्वाँ सोन ब्रोहं-ब्रोहं पकान गौ
—'सत्य की गर्जना करते हुए शेर[1] जेल चला गया
इधर समूचे रेवड़ को भेड़िया खाता चला गया
वह नवयुवकों को काल-कोठड़ियों में ठूँसता गया
फिर भी हमारा काफला आगे बढ़ता गया।'

शेरे काश्मीर शेख़ मुहम्मद अब्दुल्ला के जेल से छूटने पर जनता की दूसरी विजय हुई । शेख़ की अध्यक्षता में जनता के सभी स्वप्न सत्य सिद्ध हुये ।

पर शीघ्र ही काश्मीर को विपत्ति का सामना करना पड़ा । उसके उत्तरीय भाग की ओर से क़बाइली चढ़ आये । जनता का हर्ष

---

१ शेरे काश्मीर शेख़ अब्दुल्ला ।

शोक में बदल गया।

काश्मीरी कवियों का उत्तरदायित्व अब पहले से कहीं अधिक बढ़ गया। इधर इन कबाइलियों को काफ़ी पीछे धकेल दिया गया है। इस परीक्षा-काल में काश्मीरी जनता और काश्मीरी कविता एक समान सफल हुईं।

काश्मीरी कवि आसी ने अपनी कविता में एक नई ही कला-चेतना को प्रस्तुत किया है। उसकी 'जन्मभूमि का सन्देश' शीर्षक कविता का हिन्दी रूपान्तर देखिए—

सुनो! मेरी जन्मभूमि कितनी मनमोहक है
स्वर्ग से मिलती-जुलती है मेरी जन्मभूमि
जिगर की ठंडक है मेरी जन्मभूमि
बुद्धिमान् स्वर्ग का मज़ा भी भूल जायं मेरी जन्मभूमि में।

काश्मीर के हिन्दू मुसलमान अमन पसंद करते हैं
काश्मीर में सूरज की तरह चमकता है दीन-धर्म
काश्मीर में इस्लाम का प्रचार है
हिन्दू भी तो अपने ज्ञान को लिये हुए हैं काश्मीर में।

लोग मन्दिरों मस्जिदों में श्रद्धा और अक़ीदत से जाते हैं
ईश्वर और खुदा को वे कभी नहीं भूलते
जन्मभूमि का प्रेम लोगों के दिलों से उमड़ा पड़ता है
नफ़रत को दूर रख कर यहां मुहब्बत पैदा की जाती है दिलों में।

किसी के दिल में कीना नहीं; सब के दिल साफ़ हैं शीशे की तरह
काश्मीरियों में जुदाई पैदा करना कठिन है
जन्मभूमि का सन्देश सुन, बुद्धि से काम ले
काश्मीरियों के लिए मंज़िल पर पहुंचना कठिन हो गया।

ओ दिल! देख सितमगर क्या कर रहा है
वह संगदिल बन कर आग लगाता आया
उस बेरहम ने देश को तबाह कर दिया
पर झूठ की हार होती है, सच की जीत।

संक्षेप में सुनो! हिन्दू-मुसलमान अब दो शरीरों में एक प्राण हैं
वे सदा एक हो कर रहेंगे
एक नेक अमल दिखायेगा दूसरा सचाई का ज्ञान
कितना अच्छा है नेकों से मिलाप रखना!

तू दूर गाँव का रहने वाला है, वे तुझे धोखा न दें
इस्लाम के नाम पर तू फ़रेब में मत आना
उन्होंने दीन को बदनाम कर दिया, मुझे यही रोना है
यह सितम देखकर बड़े लोग शर्मिन्दा हैं।

गल्लबान होकर अपना नाम ख़ान बताते हुए
मक्का की तस्बीह गले में डाले वे लोगों के घरों में घुस आये

उनकी दाढ़ी देखी तो लोगों ने उन्हें दरवेश समझा
दरवेश बन कर न उन्होंने घरवाली को छोड़ा न दासी को !

ख़ौफे इलाही भूलकर आये ये लोग
हम सच और झूठ की खुश्क और तर गवाही देंगे
जिस घर में खाया पिया उसे ही उजाड़ और लूट कर चलते बने
इस पर भी वे अपने को आज़ाद सिपाही कहते हैं !

वे गिद्ध की तरह मकरूह चीज़ें खाते आये
माले हराम खाकर ये गल्लाबान नाज़ करते थे
वे खुश थे कि उन्होंने नई बाज़ी जीती
लूटे हुए कपड़े पहन कर वे कितने खुश थे !

वे काश्मीर को लूटने के लिए आये
काश्मीर के लोग सीना तान कर डट गये
लुटेरों को हरा दिया गया, उनका अरमान दिल ही में रह गया
बहादुरी से लड़कर हमने काश्मीर की आन रख ली ।

जवान तीर-कमान लेकर निकले,
चाहे उन्हें मालूम नहीं था कि तीर-कमान क्या चीज़ है
उन्होंने लड़ाई में रुस्तम को भी मात कर दिया
उन्होंने अपनी जन्मभूमि को आज़ाद करा लिया ।

मर्द आग में कूद पड़े—यह मैंने अभी सुना
खुद खुदा ने हमारे लिए हादी भेजा था
हमने जन्मभूमि को आज़ाद किया और मुनादी करदी—
काश्मीर हमारा है ! यह घाटी हमारी है !

सिर पर कफ़न रखकर जवान मैदान में निकले
किसी ख़ौफ को उन्होंने दिल में जगह नहीं दी
किसी ने ख़ौफ़ न खाया, जवान मैदान में निकले
बड़े-बड़े बहादुरों ने दुश्मन को पछाड़ दिया !

जवानों ने दुनिया में अपना नाम ज़िन्दा कर दिया
पहाड़ी कागों को बाहर निकाल दिया
जवानों ने काश्मीरियों की आन रख ली
उन्होंने काश्मीर की चप्पा भर धरती भी दुश्मन को नहीं दी ।

किसी में भी तो इतनी शक्ति नहीं
कि काश्मीरियों की तरफ़ तिरछी निगाह से देखे
काश्मीरियों ने उनके लिए सिला मुकर्रर कर दिया है
जो उनसे जैसा सलूक करेगा वे भी उससे वैसा सलूक करेंगे !

दुनिया में काश्मीर ने अमन का झण्डा ऊँचा किया
काश्मीर ने जनमत की सुलतानी दावत देकर दिखा दी

काश्मीर ने शेर और बकरी के लिए एक ही घाट बनाया है
जिसे इस का पानी रास न आया उसे काश्मीर ने छोड़ दिया?

एक और स्थल पर काश्मीरी कवि आसी अपने देशवासियों के सम्मुख काश्मीर के झण्डे का चित्र प्रस्तुत करता है—

काश्मीरियों का हलवाला झण्डा कितना सुन्दर है
सचमुच यही झण्डा उनके अरमान पूरे करेगा
दुनिया में इसका दर्जा ऊँचा हो, इसकी शान क़ायम रहे
ग़मग़ीन दिल परेशान ना रहें, काश्मीरियों की शान बढ़ जाय।

यह झण्डा अपने अन्दर ख़ुशी और सरूर रखता है
यह पक्षियों को दर्द का अफ़साना सुना रहा है
जब जुल्म की कमान से तीरों की वर्षा हो रही थी
काश्मीरियों की लाशें बे-कफ़न पड़ी थीं।

कई बच्चों ने भूख के मारे माताओं की गोद में दम तोड़ दिया
यह उस समय देखने में आया जब काश्मीरी तूफ़ान बनकर उठे
यह झण्डा शहीदों के लहू से रंगा हुआ है
काश्मीरियों का आसमान सात गज़ ऊँचाई पर ही रह गया।

मज़दूर इस की ओर देखते हुए ग़म के क्षण बिता रहे हैं।
ये सरमायादार तो काश्मीरियों को देख कर योंही डर गये

यह झण्डा सचाई का लिबास पहने ऊपर नज़र जमाये हुए है
जैसे यह सिपाही बनकर काश्मीरियों का दरबान बना बैठा हो।

कुछ तो टैक्स के रूप में और कुछ जुर्माने के बहाने
काश्मीरियों का माल यार लोगों ने लूट लिया
जो कोई भी हलवाला झण्डा लेकर मैदान में निकले
काश्मीरियों के लिए तो वही सुख चैन लायगा !

जिस ग़द्दार ने काश्मीरियों को कुलियों के रूप में बेच डाला
हम उससे क़ियामत तक तावान लिए बिना नहीं छोड़ेंगे
जिसके दिल में इस झण्डे की दुश्मनी हो उसे नज़र में रखो
वही तो काश्मीरियों में शैतान बना हुआ है।

ओ आसमान, अब तो हमारे साथ मुहब्बत से पेश आना चाहिए
एक को छोड़ कर सब काश्मीरियों का ईमान पक्का साबित हुआ
ओ सरमायादार, पनाह लेने के लिए कोई और स्थान तलाश कर
जब काश्मीरियों का राज होगा, तेरे होश गुम हो जायेंगे।

जो आज तक गुलाम थे वही अब राज करेंगे
युग के अनुरूप काश्मीरी स्वयं अपना विधान बनायेंगे
ओ आसी, लोग जिस्म को अलग-अलग लिबास पहनाए हुए हैं
ख्वा-म-ख्वाह काश्मीरी इस बात पर झगड़ रहे हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि आज का काश्मीरी कवि अपना दायित्व खूब निभा रहा है। अब उसे केवल 'इश्क' और 'हुस्न' की गाथाएं नहीं भातीं। क्योंकि उसके मन के दूसरे तार भी बज उठे हैं जिनकी झंकार आधुनिक है, जिनकी भाषा की गति-विधि एकदम नूतन है। स्पष्ट है कि जिस भाषा में आज का काश्मीरी कवि अपनी नई रचनाएं प्रस्तुत करता है, काश्मीरी जनता की सूझ-बूझ से परे नहीं और जन-मन से तो उसका सीधा सम्पर्क है ही। आधुनिक काश्मीरी कवि की आवाज़ आज वस्तुत: समूचे काश्मीर की आवाज़ है।

गत सत्रह वर्षों में काश्मीर के इतिहास में भारी परिवर्तन हुआ। स्वतन्त्रता-संघर्ष का काश्मीरी कविता पर विशेष प्रभाव पड़ा।

काश्मीर का जयगान आधुनिक काश्मीरी कविता की अग्रगामी शक्तियों का प्रतीक है। मिर्जा आरिफ़, आजाद और आसी ने काश्मीरी कविता में जो नये रंग भर दिये हैं उनके सम्मुख वह रंग आज भी कुछ कम ज़ोरदार नहीं जिसे महजूर ने अपनी कवि-तूलिका द्वारा प्रस्तुत किया है।

उत्सव से पहले

वैशाखी के मेले की याद मुझे आज भी भूली नहीं। मेला आने में अभी कुछ दिन रहते हैं, अभी से हृदय नाच-नाच उठता है—कल्पना के कला-भवन में वैशाखी के मेले का चित्र आज भी सजीव है। इस चित्र पर मुझे गर्व है। इसे मैं किसी भी मूल्य पर कल्पना के कला-भवन से दूर नहीं कर सकता। चित्र तो यहाँ अनेक हैं। पर इस चित्र का जो स्थान है वह किसी दूसरे चित्र को तो नहीं मिल सकता।

हमें बस एक चवन्नी ही तो मिलती थी, और यदि पिताजी ने खुश होकर चवन्नी के स्थान पर अठन्नी दे दी, तब तो हम समझते थे कि हम वैशाखी के बादशाह बन गये हैं। मैं था और मेरा छोटा भाई, जो चवन्नी के स्थान पर अठन्नी लेने का गुर जानता था। हाँ, एक बात अवश्य थी—वह इस गुर से कभी-कभार ही काम लेता था। ऐसा भी होता कि मेरी चवन्नी भी चुपके से उसी की जेब में चली जाती। यह दो चवन्नियों को मिला कर एक अठन्नी बना सकने की कला उसने पहले-पहल कब और किससे सीख ली थी, इसकी खोज मैंने कभी नहीं

की थी। ऐसा कभी न हुआ कि उसकी चवन्नी भी मेरी चवन्नी से आन मिले।

हम एक-साथ मेला देखने जाते। एक-साथ, बल्कि यों कहिये कि हाथ में हाथ डाले, सारे मेले में घूम जाते। आज उस मेले की बात सोचता हूँ तो लगता है कि अब वैसा मेला फिर से देखने को नहीं मिल सकता। कैसे कल्पना कर लूँ कि वे दिन लौट कर आ सकते हैं? वे दिन आ भी जायँ, पर वह चवन्नी पा कर खुश हो जानेवाली तबीयत कहाँ से लाऊँगा? इधर छोटा भाई भी जीवन की उलझनों में फँस गया है। उसे न चवन्नी खुश कर सकती है न अठन्नी। उसे तो वैशाखी के मेले की याद भी नहीं आती। मैंने कई बार यत्न किया कि वैशाखी का ज़िक्र छेड़ दूँ और ऐसा चित्र प्रस्तुत करूँ जिसे देखते ही उसकी आत्मा सौन्दर्यबोध की अनुभूति से पुलकित हो उठे। बस वैशाखी के मेले की बात शुरू हुई नहीं कि उसने सामने से कह दिया—अब पिछली याद व्यर्थ है!

मेरे मन में जाने क्यों अभी तक पिछली स्मृति का मोह शेष है। वैशाखी के मेले पर, बल्कि उससे पहले ही, किस प्रकार छोटे भाई की आँखें चमक उठती थीं। उन दिनों कभी नहीं सोचा था कि आगे चलकर छोटे भाई के लिए वैशाखी के मेले का कुछ भी मूल्य नहीं रह जायगा। मेले में आनेवाली स्त्रियों के वस्त्रों के रंग आज भी मेरी कल्पना में सजीव हो उठते हैं। पर छोटे भाई के लिए इन रंगों का अब कोई महत्त्व नही रहा। वह तो बल्कि मुझे भी इनके पीछे भागने से रोकना चाहता है।

सोचता हूँ किसी प्रकार छोटे भाई की आँखों में वह चमक देख पाऊँ जो चवन्नी या अठन्नी मिलते ही उसकी पुतलियों के बीचोंबीच थिरक उठती थी।

शायद कोई मुझे खब्ती कहकर चुप रहने की फ़रमायश करे। पर

मैं यों चुप नहीं होने का। वाह, यह भी कोई बात हुई कि कल्पना पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया जाय। सच पूछो तो मुझे अपने बचपन की याद उतनी ही प्रिय है जितनी किसी को अपने देश के स्वर्ण-युग की कल्पना।

यह तो अवश्य बताऊँगा कि हम चवन्नी या अठन्नी किन-किन वस्तुओं पर खर्च कर डालते थे। बताशे और चीनी के खिलौने हमें सबसे अधिक पसन्द थे। चीनी के मखाने देखकर हमारी आँखों के आगे नया ही चित्र उभरने लगता। मैं सोचता कि क्या ही अच्छा होता यदि मखानों को एक ढेर के रूप में कहीं खुले मैदान में रख दिया जाता, बल्कि यह कहिये कि मैं तो मखानों के पहाड़ की कल्पना करने लगता। आज शायद मखानों का सचमुच का पहाड़ भी मुझे इतना खुश न कर सके।

चीनी के खिलौने शायद इन दिनों इतने सुन्दर नहीं बनते। पर जिन दिनों की बात सुनाने बैठा हूँ, उन दिनों सचमुच चीनी के खिलौने बनाने की कला बहुत वेग से उन्नति-पथ पर अग्रसर हो रही थी। इस कला की गति एकाएक कैसे रुक गई, यह बात मैं यत्न करने पर भी नहीं समझ सकता। सच बात तो यह है कि देखनेवाली आँख ही की कमी हो गई है। खिलौने तो शायद आज भी कुछ कम सुन्दर नहीं बनते। चीनी भी पहले से अच्छी ही बरती जाती होगी। अभी उस दिन छोटे भाई के घर बैठे किसी बच्चे ने चीनी का एक खिलौना लाकर मेरे हाथ पर रख दिया। मैंने कहा—"बेटा, इसे तुम ही खा लो।" सच पूछो तो मुझे यों लगा, जैसे अब मुझे चीनी का खिलौना खाने का कोई अधिकार ही नहीं रह गया।

चीनी का वह खिलौना मुझे घूर रहा था। मैंने भी उसकी आँखों में घूरना आरम्भ कर दिया। वह मुझ से कुछ पूछना चाहता था।

शायद वह कहना चाहता था कि मैं उसे देखकर उछला क्यों नहीं? इसका तो एक ही उत्तर हो सकता था कि अब बचपन के दिन नहीं रहे। पर वह यह कह सकता था कि यह सब व्यर्थ की दलीलबाज़ी है, और आदमी को यह यत्न करना चाहिए कि बचपन की याद बराबर बनी रहे।

अनेक मेले देख चुका हूँ। पर वैशाखी का रंग कहीं नज़र नहीं आया। यह मेला कब से चला आ रहा था, किसी से इसका इतिहास पूछने का भी प्रश्न ही नहीं उठा था। प्रति वर्ष यह मेला ठीक तिथि पर आ जाता। इसकी बाट जोहते कितना आनन्द आता, कितना उल्लास अनुभव होता। आज उस सौन्दर्यबोध का लेखा-जोखा कैसे किया जाय?

मेले से पूर्व समय के रथ की गति ज़रा धीमी पड़ जाती। जैसे यह मेला आँख-मिचौनी खेलना चाहता हो। वाह, यह भी खूब रही कि चलते-चलाते समय के रथ का पहिया धीमा पड़ गया।

अभी उस दिन एक मित्र से वैशाखी का जिक्र आ गया। वह बोला—"वाह, इसमें इतनी चिन्ता की कोई बात नहीं। वैशाखी से दो चार दिन पहले ही छुट्टी लेकर अपने गाँव में पहुँच जाओ और मजे से वैशाखी देखकर लौट आओ।"

मैंने कहा—"यह तो ठीक है कि वैशाखी वहां आज भी मनाई जाती है। शायद स्त्रियाँ आज पहले से कहीं अच्छे रंग पसन्द करती होंगी। चीनी के खिलौने भी आज अवश्य होंगे, मखाने भी। पर उन्हें देखकर कैसे मेरा मन पहले की तरह नाच उठेगा।"

सोचता हूँ फिर से छोटे भाई को भी जन्मग्राम की वैशाखी देखने के लिए तैयार कर लूँ। फिर शायद कुछ बात बन जाय।

उत्सव से पहले ही गाँव के चेहरे पर नया रंग आना शुरू हो

जाता था। जैसे पूरे का पूरा ग्राम अपने इतिहास के किसी नये पृष्ठ पर अपनी गाथा का चित्र देखकर गर्व से सिर उठाकर खड़ा हो गया हो।

ग्राम-ग्राम घूम आया। अनेक मेले देख आया। अनेक रंग, अनेक स्वर, अनेक चाँद-सितारे देख आया। ग्राम की पगडण्डी पर धूल का बादल आज भी उभर रहा है। पर इसी धूल के बीचोंबीच मेले का रंग झलकता है! गाँव के चेहरे पर धूल जमी है तो क्या हुआ। उसके हृदय में जो उल्लास उत्सव से पहले ही लबालब भर जाता है, कभी किसी ने उसका भी ध्यान किया है।

वैशाखी के मेले की याद आते ही शान्तिनिकेतन के जन्मदिन अर्थात् सात पौष का ध्यान आने लगता है। उस दिन वहां चारों ओर के ग्रामों से सन्थालों की टोलियां आकर मेले का रंग जमा देती हैं। सन्थाल युवतियों के मुख पर मुसकान नाच-नाच उठती है। उनकी आँखें जैसे कुछ पूछ रही हों। उनके पैर मानो किसी लोकनृत्य के ताल पर नाच-नाच उठते हों। इसी दिन शान्तिनिकेतन की स्थापना हुई थी—यह सब सन्थाल नहीं जानते। उन्हें तो बस इस मेले का दिन याद रहता है। जैसे यह मेला शान्तिनिकेतन के जन्म से पहले भी इसी तरह आया करता हो। अब इस इतिहास का अनुसन्धान करने का तो अवकाश नहीं कि शान्तिनिकेतन की स्थापना से पहले भी यह मेला इसी तरह लगता था या नहीं। ठीक यहाँ नहीं तो थोड़ा इस ओर या थोड़ा उस ओर मेला लगता होगा। इससे तो कुछ अन्तर नहीं पड़ता। सात पौष के मेले की रौनक बढ़ाने के लिए शान्तिनिकेतन की ओर से अनेक खेल-तमाशों का आयोजन किया जाता है। इस अवसर पर 'कवि वाला' शैली की आशु कविता के दंगल का भी विशेष प्रबन्ध किया जाता है। पर सच पूछो तो यदि सन्थाल युवक और युवतियाँ इस मेले में सम्मिलित न हों तो इसका सौन्दर्य आधा भी न

रह जाय। रात को आतिशबाज़ी के खेल रचाये जाते हैं। हवाइयां छूटती हैं, अनार फूटते हैं, गोलों के धमाकों से तो मानो आकाश गूँज उठता है। पर सच पूछो तो आतिशबाज़ी के खेलों से कहीं अधिक सन्थाल लोकनृत्यों में रस आता है। प्रत्येक गाँव की टोली अलग-अलग नाच रचाती है। यहाँ एक बात साफ़ नज़र आ जाती है कि सन्थाल नृत्य में दर्शकों की कोई कल्पना नहीं रहती। सारा गाँव मिल कर नाचता है—युवक-युवतियाँ, अधेड़ उमर के स्त्री-पुरुष, बल्कि वृद्ध भी सभी नृत्य में सम्मिलित हो जाते हैं। सामूहिक नृत्य में समस्त कबीले का सामूहिक व्यक्तित्व खिल उठता है। मेले का दिन अभी दूर है। पर अभी से मेले की चर्चा होने लगी। इससे जीवन की गति में नई प्रेरणा आ गई। जब कभी मुझे सात पौष के दिन शान्तिनिकेतन में जाने का सौभाग्य प्राप्त हुआ तो मैं मुक्त कंठ से कह उठूंगा—"जहाँ अनेक अतिथियों को पत्र लिखकर बुलाया जाता है वहां ये सन्थाल स्त्री-पुरुष अपने आप चले आते हैं। जी हाँ, उन्हें यह दिन कभी नहीं भूल सकता।"

ओ आनेवाले उत्सव, प्रणाम !

सौन्दर्यबोध

एक बार एक बौद्ध भिक्षु से भेंट हुई। उसने हँसकर कहा—"भिक्षुओं के लिए बुद्ध ने नृत्य और संगीत मना किया है। इसीलिये 'विनय पिटक' में संगीत की चर्चा न होने के बराबर है।"

मैंने कहा—"पर जहाँ तक काव्य का सम्बन्ध है बौद्ध साहित्य इससे भरा हुआ है। 'धम्मपद' तो है ही कविता का प्रेरणा-स्रोत। जातक कथाओं में भी अनेक स्थल कविता की भाव-भूमि से पटे हुए हैं।"

बौद्ध भिक्षु के चेहरे पर मुस्क़ान की रेखाएँ घूम गईं। मैंने सोचा, आज अवश्य कोई नई बात मालूम होगी। वह कहता चला गया—"मुझे एक बात याद आ रही है जो आपको बहुत प्रिय लगेगी। 'सक्कपञ्ह सुत्त' में पंचशिख की चर्चा की गई है जिसने वीणा पर बुद्ध के सम्मुख कुछ गाथाएँ गाई थीं।"

मैंने उछलकर कहा—"तो यह कहिये कि संगीत के प्रति बुद्ध के मन में थोड़ा-बहुत स्थान तो अवश्य रहा होगा। पंचशिख ने जो स्वर छेड़ दिये थे वे कैसे थे? गान में कला का सौन्दर्यबोध किस प्रकार

अभिनन्दित हो उठा था, इसका कुछ समाचार अवश्य दीजिये।"

वह बोला—"पंचशिख की गाथाएँ नीरस नहीं हैं।"

"इन गाथाओं में कैसे भाव व्यक्त किये गये हैं?" मैंने पूछ लिया, "क्या इनमें धर्म की चर्चा की गई है?"

इस पर बौद्ध भिक्षु खिलखिलाकर हँस पड़ा। बोला—"आप भी तो बाल की खाल निकाल रहे हैं। अरे भाई, मैं तो स्वयं बताने जा रहा था। इन्हीं दिनों मैंने एक लेख पढ़ा जिसमें पंचशिख की गाथाओं का भी उल्लेख था। बस मुझे भी वे याद आ गईं। हाँ, तो सुनो। पंचशिख इन गाथाओं में अपनी प्रेमिका को सम्बोधित करके कुछ कहता है।"

मैंने व्यंग्य से कहा—"तब तो पंचशिख अवश्य कोई भावुक कवि रहा होगा। पर उसे यह क्या सूझी कि प्रेम और शृंगार की कविता वीणा के स्वरों में संजोकर भगवान् बुद्ध को गा सुनाये।"

"हाँ तो मैं पंचशिख की गाथाओं का भाव आपको सुना दूँ," बौद्ध भिक्षु ने गम्भीर होकर कहा, "वह कहता है—'स्वेदाकुल को जैसे पवन, प्यासे को जैसे पानी, अरहतों को जैसे धर्म प्रिय होता है वैसे ही, हे प्रिय अंगिरा के गोत्र में उत्पन्न, तुम मुझे प्रिय हो। मेरा चित्त तुम में गुंथा हुआ है। अपना चित्त मैंने तुम्हें दे दिया है। पंकज जैसे पंक से अलग नहीं होता वैसे मैं भी तुम से अलग हो लौट नहीं सकता। कारण नहीं जानता। हे सुलक्षण उरवाली! तुमने मुझे मतवाला बना डाला है। भद्रे! जैसे-जैसे जल अग्नि को शान्त करता है वैसे ही मुझे शान्त करो। हे वामोरू! मुझे गले लगा लो। हे मन्द-लोचने! मुझे हृदय से लगा लो। हे कल्याणि! मुझे आलिंगित करो। मेरी यही प्रार्थना है। हे सुमधसे! अचिर फूले शाल के समान शोभायमान मैं तुम्हारे पिता को नत होकर प्रणाम करता हूँ जिसकी तुम

सुन्दर कन्या हो !' कहो पंचशिख की कविता कैसी लगी ?"

मैं तो सचमुच पुलकित हो उठा था। पंचशिख का साहस मुझे और भी महान् लगा। क्योंकि उसने युग के महापुरुष के सम्मुख अपनी प्रेमिका की चर्चा करते हुए सौन्दर्यबोध की पताका ऊँची की थी। जाने बुद्ध को यह गान कैसा लगा होगा, मैं पूछना चाहता था।

उस दिन बुद्ध के सामाजिक जीवन-सम्बन्धी लेख की चर्चा करते हुए बौद्ध भिक्षु ने और भी बहुत-सी बातें सुनाईं। पर सच पूछो तो यही पंचशिख की बात सौ बातों पर भारी नज़र आ रही थी।

मैंने सोचा, क्यों न मैं भी अपनी बात छेड़ दूँ। पर कैसे शुरू करूँ, यही समस्या थी। आखिर बहुत सोचकर मैंने कहा—"मुझे तो उपनिषद्कार का यह वक्तव्य बहुत प्रिय लगता है—आनन्द से ही सब कुछ उत्पन्न हुआ है, आनन्द से ही सब कुछ जी रहा है, और आनन्द की ओर ही सब कुछ चल रहा है।"

उपनिषद्कार के वक्तव्य से बौद्ध भिक्षु को भी कोई आपत्ति नहीं थी। फिर मैंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर के एक लेख की चर्चा छेड़ दी—"जगत् में जो सत्, चित् और आनन्द है उसे हम ज्ञान की प्रयोगशाला में विश्लिष्ट करके देख सकते हैं, किन्तु वे विच्छिन्न होकर नहीं रह रहे हैं। काष्ठ नामक वस्तु वृक्ष नहीं है, उसकी रस खींचने और प्राण धारण करने की शक्ति भी वृक्ष नहीं है, वस्तु और शक्ति दोनों का जो एक समग्रता में आवृत करके जो एक अखण्ड प्रकाश है वही वृक्ष है—वह एक साथ वस्तुमय, शक्तिमय और सौन्दर्यमय है। वृक्ष जो आनन्द देता है वह इसीलिए। इसीलिए वृक्ष विश्वपृथ्वी का सौन्दर्य है। वृक्ष में छुट्टी के साथ कार्य का, कार्य के साथ खेल का, कोई विच्छेद नहीं है। इसीलिये पेड़-पौधों में चित्त इतना विश्राम पाता है, छुट्टी का सच्चा

रूप देख पाता है। वह रूप कार्य का विरुद्ध रूप नहीं है। वस्तुतः वह कार्य का ही सम्पूर्ण रूप है इस कार्य का सम्पूर्ण रूप ही आनन्दरूप है, सौन्दर्यरूप है। यह कार्य नहीं, किन्तु लीला है, क्योंकि उनका कार्य और विश्राम साथ-साथ है।"

कई बार हमारी चर्चा का रुख पंचशिख की ओर मुड़ गया। मैंने कहा—"रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'कवि की कैफियत' शीर्षक निबन्ध में उपनिषद्कार के आनन्दबोध की व्याख्या करते हुए यह शिकायत की है कि सृष्टि की समग्रता की धारा मनुष्य में आकर टूट-फूट गई है, क्योंकि मनुष्य में अपनी एक इच्छा है जो जगत् की लीला के साथ ताल मिलाकर नहीं चलती। बात-बात पर ताल कट जाता है। यही कारण है कि मनुष्य सृष्टि को खण्ड-खण्ड करता हुआ शत-शत लघु सीमाओं में बाँधकर किसी-न-किसी ताल में बाँधने का यत्न किया करता है। कवि ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि इससे सम्पूर्ण संगीत का रस नष्ट हो जाता है और टुकड़ों में ताल की रक्षा नहीं हो पाती। हाँ, तो जरा इस बात पर विचार कर लिया जाय कि क्या पंचशिख भी अपनी प्रेमिका का गान बुद्ध के सम्मुख प्रस्तुत करते हुए सम्पूर्ण संगीत का रस व्यक्त नहीं कर पाया था। खैर, वे स्वर तो अब हम कैसे सुन सकते हैं जो पंचशिख की वीणा पर थिरक उठे थे। उसके शब्द हमें आज भी उपलब्ध हैं। ध्यान से देखें तो ऐसा लगता है कि वह अपनी प्रेमिका के सौन्दर्य में इतना तन्मय है कि बुद्ध के सम्मुख भी निस्संकोच भाव से वह उसी का गान गाने लगा।"

कह नहीं सकता कि बौद्ध भिक्षु को इस चर्चा में पूरा रस आ रहा था या नहीं। मैंने पूछा—"क्या कहीं पंचशिख का चित्र भी मिल सकता है?"

इसका उत्तर देते उसे हिचकिचाहट महसूस हुई। मैंने फिर पूछा

लिया—"चित्र में नहीं तो किसी मूर्ति में ही सही। क्या कहीं भी पंचशिख के दर्शन नहीं हो सकते ?"

पंचशिख के दर्शन की बात पर वह हँस पड़ा। जैसे इस प्रश्न में उसे किसी व्यंग्य की रेखाएँ नज़र आ गई हों। मैंने फिर कहा—"चित्र तो अनेक हैं, मूर्तियों की भी कमी नहीं। बुद्ध के स्पर्श से चित्रकला और मूर्तिकला धन्य हो उठीं। जाने कितने हाथों ने तूलिका का जादू प्रदर्शित किया, जाने कितने हाथों ने छैनी की कला प्रस्तुत की। पर क्या किसी को भी पंचशिख की याद नहीं आई थी ? मैं उस युग का कलाकार होता तो मैंने अवश्य पंचशिख को बुद्ध के सम्मुख वीणा पर अपनी प्रेमिका का गान गाते हुए दिखाया होता।"

वह हँसकर बोला—"यह काम तो आप आज भी कर सकते हैं।"

"हाँ हाँ, यह तो ठीक ही कहा आपने," मैंने भी हँसते हुए कहा, "पर यदि यह सत्य है कि आज हमें किसी चित्र या मूर्ति में पंचशिख के दर्शन नहीं हो सकते तो हम उस युग के चित्रकारों और शिल्पियों को उनकी इस अवहेलना के लिए कैसे क्षमा कर सकते हैं ?"

बौद्ध भिक्षु शायद यह सोच रहा था कि क्या सचमुच हमें किसी भी चित्र अथवा मूर्ति में पंचशिख की आकृति नज़र नहीं आ सकती। वह कह उठा—"जब तक एक-एक चित्र को और एक-एक मूर्ति को देख न लिया जाय, यह कहना तो कठिन है कि हमें पंचशिख की आकृति आज कहीं भी उपलब्ध नहीं है।"

मैंने कहा—"आनन्दबोध ही सौन्दर्यबोध है। पंचशिख ने इस तत्त्व को पहचान लिया था।"

"शायद," बौद्ध भिक्षु ने हँसकर कहा, "अब इतनी कल्पना मुझ में तो नहीं है।"

मैं कहना चाहता था कि मैं पंचशिख की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकता, क्योंकि उसने यह जान लिया था कि प्रेमी जहाँ प्रेमी है वहीं उसके आनन्दबोध और सौन्दर्यबोध का संगम है। ऊपर से मैंने इतना ही कहा—"खैर, पंचशिख को पहचाननेवाले आज भी उसे पहचान ही लेंगे।"

बौद्ध भिक्षु हँसकर कह उठा—"कवि के लिए तो कल्पना ही काफ़ी है। चित्र हो न हो, वह इसके बिना भी अपना काम चला सकता है।"

मैंने कहा—"कवि की कैफ़ियत शीर्षक निबन्ध में रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बड़े व्यंग्य से यह बात कही है—'चीनी लड़की का जूता उसके पैर के अनुकूल नहीं होता, उसका पैर जूते के अनुकूल होता है; इसलिये पैर को दुःख होता है और कुत्सित होना पड़ता है......हम छाती फुलाकर कहते हैं कि ज़ीन और लगाम पहन कर दौड़ते-दौड़ते रास्ते में मुँह पटककर मर जाना ही मनुष्य का परम गौरव है। यह सब दास जाति की की हुई दासत्व की बड़ाई है। इसी प्रकार दासत्व का मन्त्र हमारे कान में फूँका जाता है। एक मुहूर्त्त के लिए हमारी आत्मा आत्मगौरव से सचेत हो उठती है—नहीं, हम घोड़े की तरह लगाम बंधी अवस्था में मरने के लिए नहीं पैदा हुए!' रवीन्द्रनाथ के शब्द मेरे कानों में बार-बार गूँज उठते हैं।"

बौद्ध भिक्षु बोला—"ठीक यही तो भगवान् बुद्ध की भी चेतावनी थी। मैं तो सोचता हूँ कि भगवान् ने पंचशिख को भी यही उपदेश दिया होगा।"

मैंने हँसकर कहा—"पंचशिख यदि आनन्दबोध और सौन्दर्य-बोध का वास्तविक महत्त्व समझता था तो फिर उसे किसी उपदेश की ज़रूरत नहीं थी।"

बौद्ध भिक्षु मेरे इस मत को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं था। शायद आनन्दबोध की कल्पना उसे प्रिय थी पर सौन्दर्यबोध चर्चा से वह अब तक बिदकता था।

मैंने कहा—"मैं तो चाहता हूँ कि पंचशिख पर एक कविता लिखूँ। क्या हुआ यदि चित्र और मूर्ति में उसे नहीं देखा जा सकता। मैं अपनी कविता में उसका चित्र प्रस्तुत करने में कभी नहीं चूक सकता।"

× × ×

बौद्ध भिक्षु से भेंट हुए बहुत दिन बीत गये। उसका चित्र मेरी कल्पना में सजीव है। जैसे कहीं से पंचशिख का चित्र भी उभरने लगता हो। जैसे पंचशिख इस बौद्ध भिक्षु से पूछ रहा हो—क्या मैं अपनी प्रेमिका से सम्बन्धित गाथाएं तुम्हारे सम्मुख भी गा सकता हूँ अपनी वीणा पर ? इस पर बौद्ध भिक्षु का चेहरा खिल उठता है। जैसे वह कहना चाहता हो—जब भगवान् बुद्ध के सम्मुख भी तुमने वे गाथाएँ गाने से संकोच न किया तो मैं कौन होता हूँ ! तुम्हें खुली छुट्टी है। चलो शुरू करो। क्या बुरा है यदि मैं भी तुम्हारी वीणा पर वे सब गाथाएँ सुन लूँ।

पंचशिख की वीणा पर जाने किस-किस युग के स्वर थिरक उठते हैं। जाने किस-किस युग का सौन्दर्यबोध अभिनन्दित हो उठता है। इस युग से भी तो इस सौन्दर्यबोध का कुछ न कुछ सम्बन्ध अवश्य होगा। पंचशिख ! तुम्हें मेरा शत-शत प्रणाम्। तुम्हारी वीणा के स्वर थमने न पायें, तुम्हारा गान तो मेरा भी गान है, पंचशिख !

आज मेरा जन्मदिन है

वर्ष में एक बार ही तो जन्मदिन आता है। जी हां, एक बार। पर आज कोई काम न किया जाये, छुट्टी रहे आज—यह मुझे एकदम नापसन्द है। सूर्य उसी प्रकार उदय हो रहा है, जैसे कल ठीक इसी समय उसकी किरणें जगमगा उठी थीं। ओ युग-युग के उदय होते सूर्य, मेरा प्रणाम् स्वीकार करो। सोचता हूं, यह अभिवादन तो वैसा ही है जैसा कि बाबाजी को पसन्द है। वाह, बाबाजी ! धन्य हैं आप और धन्य है आपकी माया। ऐसा ही होना चाहिए। आज एक नया अधिकारी आता है। बाबाजी उससे मिलने जाते हैं और उसका अभिनन्दन करते हुये कह उठते हैं—मैं तो उदय होते सूर्य को प्रणाम कर रहा हूँ। अब यदि वह अधिकारी इस अभिवादन से खुश हो उठता है तो इसमें बाबाजी का क्या दोष ? न मैं कोई अधिकारी हूं, न कहीं मेरी नई नियुक्ति हुई है। फिर भला बाबाजी मुझसे भेंट करने क्यों आने लगे। और बाबाजी को यह तो किसी ने बताया ही नहीं होगा कि आज मेरा जन्मदिन है।

बाबाजी की प्रतीक्षा व्यर्थ है। उन्हें तो आजकल हजार काम हैं। वे आज इधर नहीं आयेंगे। जन्म दिन के अनुरूप कैसे छुट्टी मनाऊं, यही सोच रहा हूं। किससे कहूँ कि मेरे माथे पर केसर का तिलक लगा दो? सोचता हूँ, क्यों न अपने हाथ से ही तिलक लगा लूं? एक वर्ष बीत गया। नया वर्ष आ गया। मजा तो जब था कि पहले वर्ष के जाने से थोड़ा पूर्व ही नया वर्ष आ जाता; दोनों एक दूसरे को देख तो लेते। यह सम्भव नहीं। पर बाबाजी को तो पहले वर्ष के बीत जाने के बाद नये वर्ष के आने की बात बहुत पसन्द नहीं आती। उदय होते और अस्त होते व्यक्ति एक साथ सम्मुख खड़े हों, इसी में तो बाबाजी के जीवन की सार्थकता है। अस्त होते सूर्य की झांकी के सम्मुख उदय होते सूर्य का दृश्य देखकर बाबाजी की आत्मा पुलकित हो उठती है। अपने जन्मदिन की उन्हें तनिक भी याद नहीं रहती। पर यदि उदय होते सूर्य का जन्मदिन हो तो वे दौड़े-दौड़े जाते हैं। बस साहब, वे छूटते ही प्रशंसा के पुल बांध देते हैं। मुझ में तो प्रशंसा के योग्य कोई भी गुण नहीं। व्यर्थ है मेरा जन्मदिन, व्यर्थ है इसकी याद, व्यर्थ है केसर का तिलक!

कौन मुझे माला पहनाने आयेगा? फूल तो बहुत खिलते हैं। माला का कहीं अभाव नहीं, पर क्या सचमुच माला बहुत आवश्यक है? क्यों न अपने हाथों से माला गले में डाल लूं! इसके लिये बाबाजी तो आने से रहे। अरे कोई है जो बाबाजी तक मेरा सन्देश ले जाये! घर में आज कोई नहीं। एकान्त भी तो सदैव नहीं मिलता। पड़ौस में किसी के यहां से प्रसव-पीड़ा का समाचार आया था। मेरी पत्नी वहीं चली गई। पुत्री स्कूल को भाग गई। बस रह गया मैं अकेला। कोई नहीं जानता कि आज मेरा जन्मदिन है। ढोल बजाना तो मुझे भी पसन्द नहीं, पर यह भी कैसा जन्मदिन है कि किसी को कानों-कान

खबर तक न हो। प्रसव-पीड़ा से मेरे पड़ौस की वह नारी आज मृत्यु के अंचल में क्यों न जा सोये, बाबाजी को इसकी क्या चिन्ता हो सकती है। उन्होंने तो आजकल बड़े-बड़े काम अपने ऊपर ले रखे हैं!

जी में आता है कि घर में ताला लगाकर चाबी पड़ौस में अपनी पत्नी को देता जाऊं। पर प्रश्न तो यह है कि जाऊं कहां? मन के सभी तार जैसे किसी छन्द के स्पर्श मात्र से पुलकित हो उठे हों। जाने किस-किस का रूप खिल उठता है। छी-छी! चतुर्दिक कहीं प्राकृतिक सौन्दर्य तो नजर नहीं आता। सुर्खी और पाऊडर से लैस चेहरे ही तो सामने आते हैं। ऐसे में कैसा सौन्दर्यबोध! बाबाजी को शायद इसकी कुछ चिन्ता नहीं। आज इस होटल में पार्टी दी जा रही है। कल उस होटल में। चाय हो चाहे डिनर, पुरुषों के साथ स्त्रियों को भी वे ज़रूर बुलाते हैं। अधिक नहीं तो एक आध सुन्दरी ही सही। सुन्दरी की परिभाषा उनसे मत पूछिये। इस पचड़े में वे नहीं पड़ते।

हाँ, तो प्रश्न तो यह है कि मैं कहां जाऊं, जहां कोई रूपवती विद्यापति के शब्दों में गुनगुना उठे—'जनम अवधि हम रूप निहारनु नयन न तिरपित भेल!' सोचता हूँ आज की रूपवती भी तो इस भाषा द्वारा अपने भाव व्यक्त कर सकती है। भाषा का लाख भेद हो, भाव तो यही रहता है—'लाख लाख जुग हिये हिया राखनु, हिया तऊ जुड़ल न भेल!'

चतुर्दिक भीड़ है, शोर है। कहां मिलेगी सुनने को यह एकाकी आवाज़? सौन्दर्य का दायित्व भी तो कुछ होगा। वस्तुत: सौन्दर्य शृंगार के नीचे दब गया है। सच पूछो तो इस से मन चिढ़ उठता है।

यह कोरी नकल, यह निरी देखा-देखी! संस्कृति के स्पर्श से जो सौन्दर्य प्राणवान नहीं, वह आज 'लिपस्टिक' के पीछे भागता है, केशों में बेकार के घूंघर डलवाता है और तभी वह माथे पर केशों का छज्जा-सा बनाकर जाने का क्या क्या विज्ञापन देता है। पर यह कैसी

चर्चा चल पड़ी । आज मेरा जन्मदिन है । प्रश्न तो यह है कि इस बार जन्मदिन कैसे मनाया जाय ?

जी में आता है कि घोड़े की पीठ पर बैठकर उसे सरपट दौड़ाऊं और यह चिन्ता एकदम छोड़ दूं कि मैं गिर भी सकता हूं और इस प्रकार हड्डियां चकनाचूर हो जायेंगी । शायद कोई कहे कि यह तो पागलपन है, निरी मूर्खता । पर बार-बार यह विचार मन का द्वार खट-खटाता है । बाबाजी को तो मेरी यह बात बिलकुल पसन्द नहीं आयेगी। यह देखकर कि मुझमें अभी तक बचपन की भावना जीवित है, वे नाक-भौं चढ़ायेंगे, पर इसमें उनका दोष नहीं । उन्होंने इसीमें लाभ देख लिया है कि आदमी गिन गिनकर कदम उठाये, नाप-तोलकर बात करे, हालांकि अपने इस आदर्श पर वे स्वयं अभी तक पूरी तरह नहीं चल पाते । बोलते हैं तो बोलते चले जाते हैं और यह भी भूल जाते हैं कि कोई उनकी बातों में रस ले रहा है या नहीं ।

मैं भविष्य में दूर तक देखना चाहता हूं । अभी इन्सान को इन्सान बनना होगा । जाने किस दिन इन्सान का जन्म होगा, पर बाबाजी का दूसरा मत है । वे तो जिस नये अधिकारी को प्रणाम् करने जाते हैं, उसी के चेहरे पर इन्सान को ढूंढने का यत्न करते हैं। वाह, बाबाजी, यह भी अच्छी दार्शनिक विचारधारा है । क्यों बाबाजी, क्या आप कभी अपना जन्मदिन नहीं मनाते ?

अस्त्र-निर्माण करनेवाले कारखाने बराबर अस्त्र बना रहे हैं । अणु-बम जैसी संहारक वस्तु के आविष्कार के पश्चात् भी उससे निम्न कोटि के अस्त्र तैयार हो रहे हैं । यह क्यों ? यह प्रश्न तो मैं बाबाजी से पूछना चाहता हूँ । सड़क पर कीड़ों की तरह रेंगते हुए मनुष्य भला मेरे इस प्रश्न का उत्तर कैसे दे सकेंगे ?

रेडियो पर रवीन्द्रनाथ ठाकुर का बंगला गान गाया जा रहा है—

फिरे चल माटिर टाने,
जे माटि आंचल पेते चेये आछे मुखेर पाने।
जार बुक फेटे एइ प्राण उठेछे,
हासिते जार फुल फुटेछे रे,
डाक दिल जे गाने गाने।
दिक हते ओई दिगन्तरे कोल रयेछे पाता,
जन्म मरण ओरि हातेर अलख सुतोय गाथा।
ओर हृदय-गला जलेर धारा,
सागर पाने आत्महारा रे,
प्राणेर बानी बये आने।

—'लौट चल माटी के खिंचाव से—
जो माटी आंचल पसार कर देख रही है तेरे मुख की ओर,
जिसकी छाती फाड़कर यह प्राण विकसित हुआ है।
जिसकी हँसी से फूल खिला है रे,
जो एक-एक गान में तुझे पुकार रही है।
इस छोर से उस छोर तक उसी की गोद फैली हुई है,
जन्म और मरण उसी के हाथ के अलक्ष्य धागों में गुंथे हुये हैं,
उसी के हृदय का गला रूप यह जलधारा है,
जो आत्म-विस्मृत होकर सागर की ओर दौड़ रही है
और प्राणों की वाणी को वहन करके लाती है।'

मैं सोचता हूं कि इस गान में मेरे ही जन्मदिन का अभिनन्दन हो उठा है। बाबाजी को यह गान गाकर सुनाऊं तो वे शायद इसकी भाषा में कोई दोष ढूंढना शुरु कर दें। शायद वे कहें कि बँगला भाषा में फूल फूटने का प्रयोग तो बहुत भद्दा है, इससे तो फूल खिलने का

प्रयोग ही सुन्दर है। पर मैं आज किसी का दोष क्यों देखूं ? माटी की टेर में तो युग-युग का स्नेह संजोया हुआ है। यही टेर मुझे प्रिय है, इसी टेर के कारण आज मैं बाबाजी के दोष भी नहीं देखना चाहता। आज मेरा जन्मदिन है।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

मैक्सिम गोर्की ने अपनी डायरी में लिखा है—"जब मैं टालस्टाय से एंटन चेखव की कहानी 'दोशेशका' की चर्चा कर रहा था तो उन्होंने कहा—यह एक फीते के समान है जिसे किसी अविवाहिता कन्या ने काढ़ा हो। पहले ज़माने में ऐसी कन्याएं होती थीं जो अपने जीवन और यौवन का सुन्दर स्वप्न चित्र के रूप में फीते पर काढ़ देती थीं।" रवीन्द्रनाथ ठाकुर से सर्वप्रथम भेंट होने पर जब मैंने गूंगी कन्या सुधा की चर्चा की तो मेरा ख़याल था कि वे अपनी कहानी के इस अछूते पात्र के सम्बन्ध में कुछ न-कुछ उन्हीं शब्दों में कहेंगे जो टालस्टाप ने चेखव की कहानी की प्रशंसा में प्रयोग किये थे। पर जब वे केवल मुस्करा कर रह गये तो यों लगा जैसे वे उससे भी अधिक कह गये हों।

यह ठीक है कि रवीन्द्रनाथ पहले कवि थे फिर कुछ और। 'गीतांजलि'पर एक लाख बीस हज़ार का नोबेल-पुरस्कार मिलते ही उनको ख्याति जहाँ दूसरे देशों में फैलने लगी वहाँ देश के विभिन्न प्रान्तीय साहित्यों में भी हर कहीं उनका नाम लिया जाने लगा।

'गीतांजलि' का अनुवाद भी मैं इससे पढ़ गया था। पर जब मुझे उसकी कहानियां पढ़ने का अवसर मिला तो मैंने यही समझा कि कवि से कहीं बड़े वे एक कहानी-लेखक हैं। 'काबुलीवाला' जैसी कहानी हर कोई तो नहीं लिख सकता। 'सुधा,' 'पोस्ट मास्टर' और 'हार-जीत' के राजकवि शेखर की गाथा और कहाँ मिलेगी, यह बात मैं बहुतों से कह चुका था। पर कवि से भेंट होने पर मैं अपनी ओर से कुछ कहने की बजाय उन्हीं के मुख से कुछ सुनने के लिये उत्सुक हो उठा था। मुझे मिली केवल मुस्कान। वह मुस्कान मैं आज तक नहीं भूल सका। जैसे कवि ने मुस्कान-द्वारा सचमुच बहुत-कुछ कह दिया हो—तुम चाहे मुझे कवि समझो चाहे कहानी-लेखक, दोनों का स्रोत तो एक ही है।

आज भी जब वह मुस्कान याद आ जाती है तो कवि का सम्पूर्ण व्यक्तित्व मेरी आंखों के सम्मुख मूर्त्तिमान हो उठता है। इस मुस्कान में गूंगी कन्या सुधा की समूची वेदना दब जाती है। 'पोस्ट मास्टर' की याद में उदास बैठी कन्या के आँसू भी जैसे इस मुस्कान-द्वारा धन्य हो उठते हैं, और अमरपुर के राजा का राजकवि शेखर उभर कर मेरी आँखों में फिर जाता है। शेखर ने राजकुमारी अपराजिता को कभी देखा नहीं था। वह राजसभा में रोज कविता पढ़ते समय अपनी आवाज इतनी ऊँची ले जाता था कि रनवास में बैठी अपराजिता भी उसे सुनकर उसके भाव समझ सके। वह राजकुमारी के सुन्दर टखनों के सपने देखने लगता था जिन पर पहने हुए नूपुर पग-पग पर मधुर राग अलापते रहते थे। वह इन्हीं नूपुरों के ताल पर ही तो कविता सुनाया करता था। एक दिन बाहर से कोई कवि शेखर से प्रतियोगिता करने आ जाता है। भरी सभा में दोनों कवि अपनी-अपनी रचनायें सुनाने को उपस्थित होते हैं। शेखर की सीधी-सादी कविता पिंडारक की

चटपटी कविता के सामने फीकी पड़ जाती है और वह हार मान कर घर की ओर चल देता है। घर पहुंच कर वह अपनी कविता की पांडुलिपियां जला डालता है और शहद में किसी वृक्ष का विषैला रस मिला कर पी जाता है। इसी समय राजकुमारी अपराजिता आ पहुँचती है। वह कहती है कि हार पिंडारक की हुई है, शेखर की नहीं। पर राजकुमारी के शब्द शेखर की मृत्यु को नहीं रोक सकते।

कुछ लोग अवश्य यह कहेंगे कि रवीन्द्रनाथ की कहानियों में भी कविता की मात्रा अधिक है और इस दृष्टि से भी वे पहले कवि थे, फिर कुछ और। इससे तो मुझे भी इन्कार नहीं। मैं तो केवल यह कहने जा रहा था कि मुझ पर शुरू में कविता का नहीं, बल्कि उनकी कहानियों का प्रभाव पड़ा।

लोग यही कहते थे कि कवि की कविता सहज नहीं और इसे समझने के लिए गहन अध्ययन चाहिये। पर मुझे तो यों लगता था कि इनमें भी वही सहज सौन्दर्यबोध है जो मैं लोक-कविता में देख चुका था। मेरे कहने का यह भाव नहीं कि यह हू-ब-हू वही चीज़ थी। पर कवि के निकट-सम्पर्क में आने पर तो जैसे मेरे मन का प्रत्येक वातायन खुल गया। उनके बहुमुखी व्यक्तित्व से मैं इतना प्रभावित हुआ कि मैंने एक कलाकार से कहीं बड़े एक मानव को देख लिया।

मुझ पर दो व्यक्तियों का प्रभाव सबसे अधिक पड़ा। कवि की चर्चा तो मैं कर ही चुका हूँ, दूसरा नाम है गांधीजी का, जो कवि को गुरुदेव कहने में विशेष गर्व अनुभव करते थे। लगे हाथों एक मजेदार घटना की चर्चा कर दूँ। जो सुना ठीक वही कहता हूँ। दक्षिण अफ्रीका से लौट कर गांधीजी शान्ति-निकेतन पधारे। उन दिनों उन्होंने दूध पीना छोड़ रखा था। किसी तरह उन्हें यह वहम हो गया था कि दूध में

ज़हर मिला रहता है।

गुरुदेव के लिए दूध आया तो वे गांधीजी से बोले—"आप भी पीजिए एक प्याली।" गांधीजी ने मुस्करा कर कहा—"इसमें तो जहर है।" इस पर गुरुदेव ने कहा—"हाँ, जहर तो इसमें है, पर यह जहर इतना कम है कि आधी शताब्दी की आयु में वह मुझे आधा भी तो नहीं मार पाया।"

लाख कोई कहे कि ये तो छोटी बातें हैं, पर मुझे तो ये कभी नहीं भूलतीं। एक बार कोई राजकुमारी कवि के दर्शन करने आई। यह उन दिनों की बात है जब कवि के बाल अभी सफेद नहीं हुए थे। राजकुमारी बोली—"आप बहुत सुन्दर हैं!" इस पर कवि चुप रहे। राजकुमारी ने अपनी बात फिर दोहराई। अबके कवि कह उठे—"राजकुमारी भी तो सुन्दर हैं!" इस घटना के सम्बन्ध में कवि से पूछने पर यह उत्तर मिला—"मेरे जीवन की ऐसी बीसियों बातें सुनने को मिलेंगी। आखिर मैं भी आदमी हूं।"

हास्य और व्यंग्य कवि को बहुत प्रिय थे। कहते हैं एक बार किसी नवाबी घराने के एक सदस्य ने कवि को देखकर कहा—"वाह, क्या नूरानी चेहरा है!" कवि के सेक्रेटरी ने इस वाक्य का अनुवाद कवि को सुनाया तो वे कह उठे—"कौन जाने इनकी क्या सम्मति होती यदि इन्होंने मुझे मेरे यौवन में देखा होता।"

एक बार जब कवि लाहौर में पधारे तो एक बंगाली महिला उनके लिए अपने प्रान्त के एक पकवान की प्लेट लेकर आईं। इस पकवान की सुगन्धि से प्रभावित होकर कवि ने उसकी प्रशंसा में बहुत-कुछ कह डाला। इस पर वह महिला बोलीं—"महाराज, अब कुछ मुँह में भी तो डालिये।" कवि ने झट उत्तर दिया—"मेरी प्रशंसा तभी तक है जब तक मैं इसे मुँह नहीं डालता।"

विश्व-भारती ने 'चयनिका' नाम से कवि की चुनी हुई कविताओं का एक संग्रह प्रकाशित किया। ये सब कविताएँ कवि के बड़े-बड़े प्रशंसकों के वोट लेकर चुनी गई थीं। पर कवि को ऐसा लगा कि उनकी कई अच्छी-अच्छी कवितायें छूट गई हैं। अतः 'संचयिता' के नाम से उन्हें अपनी चुनी हुई कविताओं का एक संग्रह प्रस्तुत करना पड़ा। वे हँसकर कहा करते थे—"वोट देनेवालों की पसन्द और है, मेरी पसन्द और!"

मेरा लिया हुआ एक सन्थाल-कन्या का फोटो कवि को बहुत पसन्द आया। इसे उनकी भेंट करते हुए मैंने पूछ लिया—"गुरुदेव आज्ञा हो तो कल आपका एक फोटो ले लूँ।" वे बोले—"फोटो तो तुम कल सुबह ले सकते हो, पर मुझे कमरे से बाहर आने को मत कहना।" दूसरे दिन सूर्योदय के पश्चात मैं कैमरा लेकर पहुँचा तो देखा कि कवि के पास उनके एक अँगरेज मित्र बैठे हुए हैं। अपने मित्र से कवि ने मेरा परिचय कराया और मुझसे कहा—"इनका फोटो लो।" मैंने झट कहा—"इनका फोटो तो मैं लूँगा गुरुदेव, पर इनके मित्र के साथ।" गुरुदेव मेरा भाव समझ गये और मुस्कराने लगे। इतने में हमने देखा कि नौकर बाहर बरामदे में कुर्सियां लगा रहे हैं। गुरुदेव ने व्यंग्य से कहा—"ऐसा लगता है कि मुझे बाहर ले जाने के लिए किसी ने नौकरों के साथ साजिश कर रखी है।" सच कहता हूँ इस पर हम सब हँस पड़े। फिर गुरुदेव ने सहर्ष बाहर काठ-चम्पा के समीप बैठकर अपने मित्र के साथ फोटो खिंचवाना स्वीकार कर लिया।

उस समय का लिया हुआ फोटो मुझे बहुत प्रिय है। इसे देखकर कवि ने व्यंग्य से कहा था—"यह कैसा फोटो है। इसमें तो मैं कोई डिक्टेटर मालूम होता हूँ।"

यूरोप-यात्रा में किसी ने कवि से प्रश्न किया—"हिन्दुस्तान में कोई और भी कवि है?" कवि ने छूटते ही उत्तर दिया—"वैसे तो मैं

भी किधर का कवि हूँ ? हाँ, जिस देश से मैं आया हूँ वहाँ के माँझी और किसान भी थोड़े-बहुत कवि अवश्य हैं और उनके गान सुनकर तो सचमुच मैं भी मुग्ध हो उठता हूँ।"

मुझे याद है, कलकत्ते में एक व्यक्ति से मेरी भेंट हुई जिसके मुख से कवि के लिए प्रशंसा का एक भी शब्द नहीं निकल सकता था। वह कहता था—"रवीन्द्रनाथ ने प्राचीन संगीत का नाक-मुँह तोड़ डाला है।" ऐसी-ऐसी जाने वे कितनी बातें कह डालता, और मेरे लिए इनका उत्तर देना कठिन हो जाता।

वैसे यह महाशय अच्छा-भला साहित्य-प्रेमी था। उसने एक बार मुझे अपने यहाँ बुलाया। मैंने बरामदे से झाँक कर देखा कि भीतर के कमरे में रवीन्द्रनाथ का फोटो टँगा है।

"यह फोटो यहाँ कैसे ?" मैंने पूछ लिया।

वह खिसियाना होकर बोला—"पहले यह फोटो मेरे ड्राइंग रूम में था, वहां से हटते-हटते यहाँ आ गया। अब मैं इसे यहाँ से भी हटानेवाला हूँ।"

मैंने हँसकर कहा—"पर मालूम होता है आपके मन पर रवीन्द्रनाथ की जो छाप पड़ चुकी है उसे आप कभी नहीं हटा सकेंगे।"

उस दिन के बाद कभी उस महाशय ने उतने उग्र रूप में कवि की निन्दा करने का साहस न किया। मेरा ख़याल है कि अब तक तो उस पर भी रवीन्द्र-संगीत का गहरा प्रभाव पड़ चुका होगा।

रवीन्द्र-संगीत के उत्थान में कवि के भतीजे स्वर्गीय दीनेन्द्रनाथ ठाकुर का नाम चिरस्मरणीय रहेगा। दिन हो चाहे रात, जब भी कवि को किसी गान के नये स्वर सूझ जाते, वे झट दीनू बाबू को बुला भेजते। किसी भी नूतन अपरिचित गान को तुरन्त स्वर-लिपि में बाँध लेना दीनू बाबू के लिए बायें हाथ का खेल था।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर

कलकत्ते के रंग-मंच पर शान्ति-निकेतन के विद्यार्थियों-द्वारा प्रदर्शित किये गये संगीत और नृत्य का एक कार्यक्रम देखकर एक संवेदनशील दर्शक ने सजीव रेखाचित्र प्रस्तुत कर दिया था...जिस हॉल में अभिनय हुआ वह खचाखच भरा हुआ था। यूनिवर्सिटी और कालेजों के प्रोफेसर, पत्रों के सम्पादक, लेखक, फिल्म-कम्पनियों के विख्यात् अभिनेता और अभिनेत्रियाँ, राजनीतिक और सामाजिक सभाओं के सदस्य—सब पूरी शान से जमा थे और पर्दे की ओर उत्सुकता से देख रहे थे। जैसे पर्दे के पीछे उनको आत्मा निहित हो। घंटी बजी और परदा उठा। सामने एक दीवार-सी थी जिसके आगे एक ओर छः युवक और दूसरी ओर छः युवतियाँ बैठी थीं। दोनों ओर के चेहरे तारों की तरह चमक रहे थे। बीच में एक कन्या थी जिसका रंग ग्रीष्मऋतु की साँझ के समान साँवला था। इस पृष्ठ-भूमि में रंगमंच के सामने एक कौच पर एशिया का महाकवि बैठा था जिसकी आत्मा सृष्टि के एक-एक परमाणु से आलाप कर रही थी। संगीत के बारीक तार के समान लहराती हुई एक लहर कवि के सिर के बालों—चेहरे को झुर्रियों, दाढ़ी की झालर और रेशमी चोगे की सिलवटों में होती हुई पैरों तक आ पहुँची थी। ढोलक बोली—गड़ गड़ तार। सितार बोले—दर दर दा, दर दर दा। साँवली कन्या ने हलकी-सी सांस ली। जैसे किसी जलपरी ने किसी जलपात्र के पास सिसकी भरी हो। कवि के मुख से प्रार्थना के शब्द मुखरित हुए। वृद्धावस्था की पवित्रता और गम्भीरता की लय गूँज उठी, तो पृष्ठभूमि के गंगा-यमुनी रूप में घुल-मिलकर वायु-मंडल में तैरने लगी। यह आवाज जिस उतार-चढ़ाव पर चल रही थी उसमें न कोई गत थी और न उस पर कोई वाद्ययन्त्र ही बज सकता था। फिर भी वह संगीत था। एक ओर से नीले-पीले और सुनहरे रंगों को उड़ाती एक सुन्दरी नाचती

हुई निकल आई। कुछ ही क्षणों के पश्चात् ऐसा प्रतीत हुआ मानो वह नाच नहीं रही है, बल्कि कवि के गान ने मानवीय रूप धारण कर लिया है। कहने को ये इतनी चीज़ें थीं पर वास्तविकता एक थी— रवीन्द्रनाथ ठाकुर........

कवि की आयु सत्तर वर्ष की थी, जब उनकी बहुमुखी प्रतिभा ने तूलिका और रंगों से काम लेना आरम्भ किया। सन् १९३० में जब वे ग्यारहवीं यूरोप-यात्रा के अवसर पर रूस गये उनके चित्र मास्को-प्रदर्शिनी में रखे गये। फिर पेरिस और न्यूयार्क की प्रदर्शिनियों में भी उनके चित्रों ने अनेक कला-पारखियों को प्रभावित किया।

एक दिन मैं सुबह-सुबह उनके पास गया। वे एक चित्र को अन्तिम स्पर्श दे रहे थे। बोले—"बताओ यह क्या चित्र है ?"

मैं अभी कुछ सोच ही रहा था कि वे व्यंग्य से कह उठे—"चित्रकार तो अवनीन्द्रनाथ हैं या फिर नन्दलाल वसु। मैं तो केवल रंगों से खिलवाड़ किया करता हूँ।"

जब ब्रिटिश पार्लियामेंट की एक सदस्या ने स्वतन्त्रता-आन्दोलन में भाग लेनेवाले भारतीयों पर विषैले शब्दों द्वारा गद्दारी का इलजाम लगाया तो भारत के इस वयोवृद्ध कवि ने रोग-शय्या से ही उसे वह जवाब दिया जो चिरकाल तक हमारे इतिहास में याद रहेगा।

अनुभवी अमेरिकन विद्वान् विल ड्यूरेंट ने अपनी एक पुस्तक रवीन्द्रनाथ ठाकुर को उपहार के रूप में भेजते हुए ठीक ही लिखा था—"आप हैं, और हिन्दुस्तान के आजाद होने की यही दलील है।"

यह सत्य है कि जीवन के अन्तिम दिनों तक कवि को अपने देश की स्वाधीनता की चिन्ता रही।

सात अगस्त १९४१ को बारह बज कर सात मिनट पर कलकत्ते में कवि का रोगि-शय्या पर स्वर्गवास हुआ। अपनी अन्तिम कविता कविने

३० जुलाई १६४१ को ऑपरेशन से कुछ घंटे पहले बोल कर लिखाई थी। इस कविता में कवि मुक्तकण्ठ से कह उठा था—"मृत्यु एक सफल रेखाचित्र प्रस्तुत करती है। दुःख की काली रात्रि मेरे द्वार पर बार-बार आई। मुझे उसके पास केवल एक अस्त्र नजर आया। कष्ट से विकृत भाल, त्रास से विकृत विकट भंगिमा, उसकी छलना की भूमिका अन्धकार में थी। जब मैंने उसकी भयानक मुखाकृति का विश्वास किया तब मेरी व्यर्थ पराजय हुई। यह हार-जीत का खेल, यह जीवन का मिथ्या भ्रमजाल शिशु-काल से ही पद-पद पर विजड़ित दुःख परिहास से पूर्ण विभीषका, भय के ये अनोखे चलचित्र—ये--मृत्यु के निपुण शिल्पी की अन्धकार में फैली हुई कारीगरी ही तो हैं।"

यदि यह सत्य है कि शताब्दियों की संचित ऐतिहासिक और सांस्कृतिक शक्तियों से रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे महान् कलाकार का जन्म होता है तो सचमुच हमें अनेक वर्षों तक इतने महान् व्यक्तित्व की प्रतीक्षा करनी होगी। पर कवि ने तो स्वयं कहा था—"पुण्य हो या पाप, आदर हो या अपमान, प्रत्येक अवस्था में ओ माँ, मैं तेरी गोद में जन्म लूं, बार-बार जन्म लूं !"

लोकश्री

जयपुर के बाजारों से राष्ट्रपति पट्टाभि सीतारमय्या का जुलूस कुछ इस शान और समारोह से निकला कि इसका चित्र अनेक दिनों तक देखनेवालों के हृदय-पटल पर अंकित रहेगा। ऊपर झरोखों और छतों से जलूस को उत्सुक दृष्टि से देखती हुईं स्त्रियों की पंक्तियां आशा और आनन्द की सूचक थीं।

इन्द्रवाहन रथ पुष्पों से सुसज्जित था। अब तक इस रथ पर देवता की सवारी ही निकला करती थी। राष्ट्रपति भी तो राष्ट्र-देवता ठहरे। रथ में जुड़े हुए चारों नागौरी बैलों की मुखाकृति से यही प्रकट होता था कि इस आनन्द-समारोह से उनकी आत्मायें पुलकित हो उठी हैं। हवाई जहाज़ों और तेज़ मोटरों के युग में राष्ट्रपति के जलूस के लिए नागौरी बैलों द्वारा खींचा जानेवाला इन्द्रवाहन-रथ प्रयोग में लाया गया—यह देश की संस्कृति का प्रतीक था। स्वर्गीय सेठ जमनालाल बजाज के सुपुत्र श्री कमलनयन बजाज इस रथ के सारथी थे। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पश्चात् यह कांग्रेस का प्रथम

अधिवेशन था। रथ आगे बढ़ रहा था—स्वतन्त्रता का विजय-रथ। जलूस का मार्ग एक सिरे से दूसरे सिरे तक राष्ट्रीय पताकाओं से सजाया गया था। वस्तुतः यह प्रजा-राज की विजय का जलूस था।

भारत की राष्ट्रीय कांग्रेस के इस पचपनवें अधिवेशन पर ढाई लाख नर-नारियों की भीड़ अवश्य रही होगी। कदाचित् अधिवेशन की शोभा पहले अनेक अधिवेशनों से अधिक थी, पर जोश नहीं था। प्रबन्ध की त्रुटियों की ओर से भी दर्शकों की आँखें बन्द नहीं हो सकती थीं। पूछताछ-विभाग से किसी प्रकार की जानकारी प्राप्त करना असम्भव था। स्वयं-सेवक भी स्वयं कुछ नहीं जानते थे। गांधीनगर से जयपुर आने-जाने के प्रबन्ध का तो एकदम अभाव था।

पण्डाल का निर्माण इस अधिवेशन की विशेषता थी। जहां पहले से यह प्रथा चली आती थी कि मंच पण्डाल के बीच में बनाया जाय, वहां इस बार मंच पण्डाल के एक सिरे पर बनाया गया था। मंच बहुत ऊँचा था। इतना ऊँचा कि ऊपर बैठनेवाले नीचे बैठनेवालों को देख भी नहीं सकते थे। मंच की विशालता की भी कुछ न पूछिये। इस पर नेता और प्रतिनिधि तो बैठे ही थे, साथ ही पत्र-प्रतिनिधियों और प्रतिष्ठित अतिथियों को भी स्थान दिया गया था। मंच की एक सुन्दरता यह भी थी कि इसे अत्यन्त कलापूर्ण ढंग से छाया गया था। विशेष रूप से छत के ऊपरी भाग पर राजस्थानी मन्दिर के गुम्बज दूर से बहुत सुन्दर लगते थे।

झण्डा-अभिवादन के समय भीड़ पर कोई प्रतिबन्ध नहीं रह सका। खुले अधिवेशन में भी भीड़ का यह हाल था कि वर्ग-भेद कायम न रह सके। दस रुपये का टिकट खरीदनेवाले ढाई सौ रुपये का टिकट खरीदनेवालों से भी आगे निकल कर जा बैठे।

राष्ट्रपति ने अपने भाषण में कहा—"हमारा देश एक पूरी तरह

खुदमुख्तार और आजाद लोकराज होने का फैसला कर चुका है। यह फैसला बदल नहीं सकता। अन्दर के शासन में और बाहर की दूसरी ताकतों से अपने सम्बन्ध को तै करने में हम पूरी तरह आजाद और खुदमुख्तार हैं और रहेंगे।" गांधीजी का स्मरण करते हुए राष्ट्रपति ने कहा—"वे हमारे लिए प्रेम की गंगा थे। उनकी आँखें हमारे लिए प्रेम की मशालें थीं। वे नूर ही नूर थे। अपने प्रेम की जोत से उन्होंने हम सब के अन्दर आज़ादी की जोत जगाई। उन्होंने झूठ को सच से, अन्धेरे को अपने अन्दर की रोशनी से और मौत को अपनी जिन्दगी से जीता। उन्होंने जिसे भी छुआ उसे निखार कर सोना बना दिया।" राष्ट्रपति ने आगे कहा—"हमारा यह राष्ट्र और हमारी राष्ट्रीयता बेदाग है। उसमें न कोई आर्थिक पक्षपात होगा, न कोई मज़हबी तास्सुब; न उसमें साम्प्रदायिकता का दोष होगा, न फिरकेपरस्ती की बुराई। दुनिया का यह अकेला देश है जिसमें ठीक तरह की सच्ची राष्ट्रीयता पनप सकती है और फल-फूल सकती है।"

प्रधान मन्त्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने खुले अधिवेशन में 'सन्देश' या 'कांग्रेस के उद्देश्य' सम्बन्धी प्रस्ताव को उपस्थित करते हुए कहा—"पाकिस्तान का भारत से भय निराधार और अवांछनीय है। भारत का पाकिस्तान पर आक्रमण करने का कोई इरादा नहीं है। आज की दुनिया में युद्ध से कोई समस्या हल नहीं होती। गत दो विश्व-युद्धों से क्या कोई बात तै हुई है? पाकिस्तान हमारी सहमति से बना है। यदि पाकिस्पानी भारत से मिलने का अनुरोध भी करें तो मैं उन्हें कहूँगा, कृपा रखिये। हम न मिलें, यही अच्छा है। दोनों का पुनर्मिलन भारत के लिए हानिकर होगा। लोगों के मस्तिष्कों में जो विष पैदा कर दिया गया है वह जब तक नष्ट न हो जाय तब तक पुनर्मिलन पुरानी समस्याएँ और कठिनाइयां फिर खड़ी कर देगा।

उन्होंने आगे कहा—"किन्तु दोनों देशों के बीच रक्षा, यातायात और व्यापार जैसे कुछ महत्त्वपूर्ण मामलों में शत्रुता मिटने पर अधिक मजबूत और स्थायी समझौता हो सकता है।" नेहरूजी ने राष्ट्रभाषा की चर्चा करते हुए कहा कि आजकल हिन्दी-आन्दोलन जिस ढंग से चल रहा है, वे उसका मुकाबला आज भी करेंगे, कल भी करेंगे और फिर भी करेंगे।

दूसरे दिन कांग्रेस के खुले अधिवेशन में श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन ने साम्प्रदायिकता-विरोधी प्रस्ताव पर बोलते हुए हिन्दी का पक्ष सौम्य रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि हिन्दी राष्ट्रीयता की प्रचारक है और यदि कभी वह साम्प्रदायिकता फैलानेवाली सिद्ध होगी तो वे स्वयं इसके विरोधी हो जायँगे। टण्डनजी ने यह भी कहा कि नेहरूजी सबसे बड़े लोकतन्त्री व्यक्ति हैं, और यदि जनता चाहेगी तो वे हिन्दी को राष्ट्रभाषा स्वीकार कर लेंगे। टण्डनजी ने आगे कहा कि देश में एक ही सस्कृति है और उसका नाम है भारतीय संस्कृति और उसी की शरण में जाने पर देश में एकता सुदृढ़ हो सकती है।

इस अधिवेशन में बहुत-से प्रस्ताव स्वीकृत किये गये। देश के भिन्न-भिन्न भागों से आये हुए प्रतिनिधियों को शायद अनेक अवसरों पर यह शिकायत रही होगी कि मेल ट्रेन की रफ्तार से प्रस्ताव प्रस्तुत करने और उन पर स्वीकृति माँगने की प्रथा किसी भी दृष्टि से उचित नहीं कही जा सकती। प्रतिनिधियों को किसी भी प्रस्ताव पर मत देने से पहले पूरा समय मिलना चाहिए। इसी में लोकमत का भला है। यों लगता था कि प्रतिनिधियों की स्वीकृति एक मानी हुई वस्तु है। विभिन्न प्रस्तावों पर अनेक संशोधन प्रस्तुत किये गये। हर बार राष्ट्रपति को उठकर कहना पड़ता था—"तरमीम गिर गई।" कुछ अवसरों पर वातावरण क्षुब्ध और रोषपूर्ण रहा।

ऊपर से देखने से यही लगता था कि यह अधिवेशन एक बहुत बड़ा कुम्भ मेला है। नेहरूजी ने उचित शब्दों में यह आशा प्रकट की, कि जयपुर का कांग्रेस-अधिवेशन अपने ढंग का अन्तिम अधिवेशन होगा। अब ऐसे प्रदर्शनों की आवश्यकता नहीं रह गई—यह बात अनेक व्यक्तियों के मुख से सुनने को मिली।

आचार्य कृपलानी ने गांधी-स्मारक कोष के लिए मर्मस्पर्शी अपील की। उन्होंने कहा कि गांधीजी की हत्या का प्रायश्चित्त इसी प्रकार किया जा सकता है। कांग्रेसजनों से उन्हें आमतौर पर शिकायत थी—वक्त-बेवक्त गांधीजी का नाम तो हम बहुत पुकारते हैं, पर हमारा ध्यान प्रायः राजनीतिक उखाड़-पछाड़ पर ही जमा रहता है। गांधी-स्मारक कोष में पैसा देनेवालों की कमी नहीं। हाँ, कमी है तो उन व्यक्तियों की जो लोगों के पास जायँ और चन्दा जमा करें।

अधिकांश भाषण हिन्दी अथवा हिन्दुस्तानी में हुए। अँग्रेजी की दाल यहां नहीं गल सकती थी।

कांग्रेस के इतिहास में इस अधिवेशन पर सर्वप्रथम डाक-विभाग ने हिन्दी भाषा की मुहरों का प्रयोग किया।

स्वागताध्यक्ष का भाषण केवल हिन्दी में उपलब्ध था—इससे राजस्थान निवासियों का हिन्दी-प्रेम तो स्पष्ट था ही, राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की अपार शक्ति की ओर भी एक छुपा हुआ संकेत किया गया था।

'सर्वोदय-प्रदर्शिनी' के अन्तर्गत लोक-नृत्यों का प्रदर्शन भी इस अधिवेशन की विशेषता कही जा सकती थी। उदयपुर से आई हुई केवल एक ही मण्डली ऐसी थी जिसके सदस्य स्वयं भील नहीं थे, पर वे भील-वेश में भील-नृत्यों का प्रदर्शन कर रहे थे। अन्य सभी मण्डलियां बड़ी सफलता से अपने निजी नृत्यों का ही प्रदर्शन कर रही

थीं। इस अवसर पर 'लोक-संस्कृति-मण्डल' का जन्म हुआ, जिसका उद्देश्य राष्ट्रपिता के आज्ञानुसार चलाये गये रचनात्मक कार्यों में लोक-संस्कृति को उचित स्थान दिलाना होगा। आचार्य कृपलानी इस संस्था के सभापति चुने गये। श्रीमती आशादेवी आर्यनायकम् इस संस्था का संयोजन अपने जिम्मे ले लिया। आशा है 'लोक-संस्कृति-मण्डल' द्वारा एक केन्द्रीय मण्डली का निर्माण अवश्य किया जायगा जो एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में घूमे और अन्तर्प्रान्तीय सांस्कृतिक एकता प्रदर्शित करे।

कुछ लोग सीधा प्रश्न करते हैं—कांग्रेस अधिवेशन पर ६० लाख रुपये व्यर्थ क्यों खर्च किये गये जबकि इतने रुपये से कोई 'इंडस्ट्री' शुरू की जा सकती थी? शायद गांधीनगर में शरणार्थी बसाये जायँगे। । यदि ऐसा न किया गया तो सचमुच ६० लाख रुपये के खर्च को एक व्यर्थ खर्च कहना होगा, जिसमें से एक बहुत बड़ी रकम तो रेत के टीलों को हटा कर भूमि को समतल करने पर ही खर्च हो गई थी। अब यह समतल भूमि किसी भी काम में न लाई गई तो हवा फिर से रेत के टीले खड़े कर देगी और ये टीले सदैव मानव का उपहास करते रहेंगे।

: २ :

कांग्रेस के जयपुर-अधिवेशन पर 'सर्वोदय-प्रदर्शिनी' में भी कुछ कम चहल-पहल न थी। बल्कि यह कहना चाहिए कि यदि इस प्रदर्शिनी की व्यवस्था न की गई होती तो कांग्रेस-अधिवेशन का महत्त्व बहुत कम रह जाता। अलग होते हुए भी यह प्रदर्शिनी इस अधिवेशन की अविछिन्न अंग थी।

प्रदर्शिनी का द्वार इतना सुन्दर और कलापूर्ण था कि हम सड़क पर

खड़े-खड़े देर तक इसकी ओर देखते रहे। फिर आगे बढ़कर हम भी उस बड़ी कतार में शामिल हो गये जो चींटी की गति से रेंगती हुई प्रदर्शिनी के भीतर जा रही थी। आखिर हम भी भीतर पहुँच गये।

मैंने अपने साथी के कन्धे पर हाथ रखते हुए कहा—"जयपुर के कांग्रेस-अधिवेशन पर आना सार्थक हो गया।"

मेरा साथी अब तक नहीं समझ पाया था कि ग्रामोद्योग और खादी प्रदर्शिनी का नाम बदलकर 'सर्वोदय-प्रदर्शिनी' क्यों रख दिया गया है। मैंने उसे बताया कि 'सर्वोदय' शब्द गांधीजी को बहुत प्रिय था। वे कहा करते थे कि इसमें बहुत उच्च भावना भरी हुई है और इसके पीछे आर्थिक, सामाजिक और नैतिक बल छिपा हुआ है।

एक ही नज़र में या एक ही चक्कर में प्रदर्शिनी के वास्तविक महत्व को समझ सकना कठिन था। जब देखो भीड़ लगी है। हर वस्तु को देखने के लिए नर-नारियों और बच्चों की लम्बी कतारें नज़र आतीं। यह गांधीजी के रचनात्मक कार्य की विजय थी। 'सर्वोदय-प्रदर्शिनी' वस्तुतः कांग्रेस की वास्तविक शक्ति की प्रतीक थी।

मेरे साथी ने कहा—"भई, आँखें खुल गईं।"

"वह कैसे?" मैंने पूछ लिया।

"गांधीजी देश का सामाजिक और आर्थिक पुनर्निर्माण करना चाहते थे। प्रदर्शिनी की एक-एक वस्तु उसी की ओर संकेत कर रही है।"

"यह तो सत्य है," मैंने कहा, "एक ओर कांग्रेस का वह रूप है जिसमें हम उसे चुनाव लड़नेवाली पार्टी के रूप में देखते हैं तो दूसरी ओर 'सर्वोदय-प्रदर्शिनी' में कांग्रेस का दूसरा रूप नज़र आता है—कार्य करनेवाली संस्था का रूप!"

आचार्य विनोबा भावे ने इस प्रदर्शिनी का उद्घाटन किया। यदि गांधीजी जीवित होते तो इसका उद्घाटन उन्हीं के हाथों से हुआ होता।

मेरे साथी ने कहा—"जयपुर-कांग्रेस के अवसर पर गांधीजी राज-कोट की समस्या हल करने में लगे हुए थे, और प्रदर्शिनी का उद्घाटन पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने किया था।"

मैंने कहा—"जयपुर के बाद रामगढ़-कांग्रेस के अवसर पर वर्षा ने प्रदर्शिनी की समस्त सुन्दरता बिगाड़ कर रख दी थी। अब यहां रंग में भंग पड़नेवाली कोई बात नहीं होगी।"

हमने पग-पग पर महसूस किया कि प्रदर्शिनी के लिए अनेक हाथों ने अनथक परिश्रम किया है। प्रदर्शिनी की सफलता सचमुच उन सैकड़ों कार्यकर्ताओं की विजय थी जो रात-दिन बड़े उत्साह से इस कार्य में जुटे रहे। हमें बताया गया कि दो-तीन महीने पहले से ही प्रदर्शिनी का काम परिश्रम से शुरू कर दिया गया था।

प्रदर्शिनी के एक-एक विभाग को हमने बड़े ध्यान से देखा। जैसे एक-एक वस्तु हम से बातें कर रही हो। दर्शकों में हमने राजस्थान के ग्रामवासियों को तो देखा ही, साथ ही विभिन्न प्रान्तों से आये हुए नागरिक और कांग्रेस-जन भी बार-बार प्रदर्शिनी में चले आते थे, क्योंकि एक बार देखने के बाद हर किसी की आँखें अतृप्त ही रह जाती थीं।

प्रदर्शिनी के भीतर ४४ फुट ऊँचा स्तूप दूर से ही देखनेवालों का ध्यान खींच लेता था। जैसे यह प्रत्येक नर-नारी को अपनी ओर बुला रहा हो। मेरा साथी इसे एकटक देखता रहा। जब मैंने उसे कन्धे से खींचा तब कहीं वह आगे चलने के लिए तैयार हुआ।

पता चला कि सजीव खाद, उत्पादन, प्राकृतिक चिकित्सा, गोपालन, लोक-नृत्य और भिन्न-भिन्न प्रान्तों के उत्सव—ये सब विभाग प्रदर्शिनी में पहली बार जोड़े गये थे, और इस प्रकार यदि कोई इसे खादी और ग्रामोद्योग प्रदर्शिनी की वृहद् आवृति कहे तो अत्युति न होगी।

मानव जीवन को विकसित करनेवाली व्यवस्था कैसे प्रस्तुत की

जा सकती है, यह प्रदर्शिनी इसी कार्यक्रम की ओर एक जोरदार संकेत थी। किस प्रकार परावलम्बी मनोवृत्ति को दूर किया जाय और इसके स्थान पर स्वावलम्बी बनने का संकल्प उत्पन्न किया जाय—यह विचार प्रदर्शिनी में घूमते समय बार-बार उत्पन्न होता था।

खादी-मण्डप हमें विशेष रूप से पसन्द आया जहां बहुत बड़े विस्तार में कताई-बुनाई की कला का चमत्कार दिखाया जा रहा था। एक सज्जन ने आगे बढ़कर कहा—"यह सब बापू ने हमें सिखाया।"

मैंने कहा—"बापू ने तो बहुत-कुछ सिखाया। पर दुःख तो इस बात का है कि हम उसे सीख कर भी कार्यान्वित नहीं कर पा रहे।"

"हमारे चर्खे तो बराबर चल रहे हैं," वह हँसकर बोला, "हमारे करघे भी थमेंगे नहीं।"

ग्रामोद्योग-विभाग में हमने चीनी-मिट्टी के कलामय बर्तन देखे, सोना चांदी और हाथी-दाँत की दस्तकारी देखी, शीशम की लकड़ी में खोदाई का काम देखा, लोहे के औज़ार बनते देखे, गन्ने और ताड़ से शुद्ध गुड़ बनाने की कला देखी, हाथ का कागज बनते देखा, आटा पीसने, धान कूटने और तेल पेरने के नवीन और अधिक उपयोगी साधन देखे। जो कुछ देखा उसी का हम पर गहरा प्रभाव पड़ा। यों लगा कि देश आगे बढ़ रहा है। ग्रामों के बसे हुए देश को तो सस्ती चीज़ें चाहिएं, और ये सस्ती चीज़ें उसी अवस्था में मिल सकती हैं जबकि स्वयं ग्रामवासी अपने परिश्रम से इन्हें उत्पन्न करें, यही गांधीजी का मत था। वे यह नहीं चाहते थे कि ग्रामवासी हाथ पर हाथ धरे बैठे नगरों की ओर देखते रहें जहां से मशीन का माल आता चला जाय और उनको परावलम्बी और सुस्त बनाता रहे।

गो-पालन विभाग भी कुछ कम शिक्षाप्रद नहीं था। दस गोशालाओं को आचार्य विनोबा भावे ने दस साँड़ों का इनाम देते हुए भविष्य में

इस दिशा में बहुमुखी उन्नति का प्रतीक प्रस्तुत किया। गोवंश को सुधारने की ओर विनोबाजी ने अपने भाषण में विशेष ज़ोर दिया। इनाम के लिए उसी गाय को चुना गया जो कम से कम आठ-दस सेर दूध देती थी।

नित्य की प्रार्थना, सामूहिक पूनीयज्ञ, एक हज़ार व्यक्तियों का नियमित सादा पुष्टिकर भोजन, जिसमें हाथकुटे चावल, हाथपिसा आटा और गाय का घी प्रयोग में लाया जाता था, सांझ को भजन-कीर्त्तन और प्रान्त-प्रान्त के लोकनृत्य—ये थीं प्रदर्शिनी की विविध प्रवृत्तियां।

नई तालीम का प्रदर्शन बहुत अच्छा रहा। इसका श्रेय श्रीमती आशादेवी आर्यनायकम् को मिलना चाहिये जिन्होंने दिन-रात की अनथक मेहनत से इसकी सफलता में कोई कसर उठा न रखी थी। आचार्य विनोबा ने नई तालीम के कार्यकर्त्ताओं और शिक्षकों को पूरे घंटे भर अपने हृदय की वाणी सुनाई।

कस्तूरबा ट्रस्ट, हिन्दुस्तानी प्रचार और हरिजन सेवा के विभाग भी बहुत शिक्षाप्रद थे। इनमें अध्ययन को विशेष सामग्री प्रस्तुत की गई थी।

किसी को किसी चीज़ की बिक्री का प्रलोभन नहीं था। फिर भी प्रदर्शिनी में जितनी रौनक रहती थी वह इस बात का प्रमाण थी कि लोगों में ज्ञान की भूख बढ़ रही है।

प्रदर्शिनी का सब से महत्त्वपूर्ण विभाग था 'बापू-मण्डप'। यह थी एक नीची सुन्दर मढ़ैया। मण्डप के ठीक बीच में बापू की गद्दी बिछी थी। इस गद्दी पर बापू की माला और लाठी पड़ी थी, पास ही बापू का चर्खा भी मौजूद था। जैसे बापू अभी उठकर चले गये हों, या जैसे वे अभी आकर दर्शन देंगे। यहाँ चार चर्खे अखण्ड रूप से चल रहे थे। मैंने अपने साथी से कहा—"ये चर्खे कभी नहीं थम सकते।"

मेरा साथी बोला—"ये चर्खे तो चलते रहने चाहिएं। इनकी घूं-घूं

बापू को बुला रही है।"

"बापू का आशीर्वाद तो हमारे साथ है," मैंने गम्भीर होकर कहा।

'बापू-मण्डप' में चारों ओर बापू के अनेक चित्र प्रस्तुत किये गये थे। कुछ फोटो तो इतने सजीव और कलापूर्ण थे कि एक क्षण के लिये यही अनुभव होने लगता था कि बापू अभी हमारे बीच में मौजूद हैं। कुछ चित्र श्री कनु गांधी के लिए हुए थे। इन से कैमरे की आधुनिक कला तथा शक्ति का प्रमाण मिलता था।

"सर्वोदय-प्रदर्शिनी का यह रूप मेरे संस्मरणों को सदैव छूता रहेगा," मैंने अपने साथी के कन्धे पर हाथ रखते हुए कहा।

वह बोला—"मुझे भी यह प्रदर्शिनी याद रहेगी।"

"ये लोग जो यहां आते हैं," मैंने कहा, "ये अपने-अपने स्थानों को प्रदर्शिनी का संदेश लेकर जायँगे और उनसे यह सन्देश सुनकर शत-शत जन लाभ उठायँगे।"

: ३ :

अनेक वर्ष पूर्व फ़ैज़पुर कांग्रेस के अवसर पर भी लोक-नृत्य का प्रदर्शन आवश्यक समझा गया था, जब कि अन्य नेताओं के अतिरिक्त पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने स्वयं भील-नृत्य की प्रशंसा करते हुए कहा था—'देश की इस कला के संस्करण का दायित्व सँभालनेवाली संस्था का जन्म होना चाहिए।'

लोक-कला के प्रति आज प्रत्येक स्वतन्त्र और विकासशील राष्ट्र सजग नज़र आता है। देश-देश के आलोचकों ने न केवल लोक-कला का मूल्यांकन करते हुए इसे राष्ट्रीयता की प्रेरणा का मूलस्रोत बताया है बल्कि यह चेतावनी भी दी है कि यदि इसके संरक्षक का प्रबन्ध नहीं किया जायगा तो यह खत्म हो जायगी और फिर कोई राष्ट्र यह नहीं

कह सकेगा कि उसने सजग प्रहरी का दायित्व निभाया है।

जहां तक भारत की लोक-कला का सम्बन्ध है इसके संरक्षण के लिए अब तक कोई संस्था नहीं थी जो देशव्यापी कल्याणोन्मुख चेतना के अनुरूप न केवल लोक-कला के संरक्षण को अपना ध्येय बनावे बल्कि देश के सम्मुख एक ऐसा कार्यक्रम प्रस्तुत करे जिसके द्वारा इस कला को राष्ट्र के मानसिक तथा बौद्धिक विकास की सीमाओं के अन्तर्गत एक जीवित वस्तु मानकर इसे भविष्य में भी विकास-पथ पर अग्रसर होने की सुविधाएँ प्रदान की जायँ। इस प्रकार की संस्था का अभाव मुझे सदैव खटकता रहा है। जब मैंने सुना कि कांग्रेस के जयपुर अधिवेशन पर 'सर्वोदय प्रदर्शिनी' के अन्तर्गत लोक-कला की ओर विशेष ध्यान दिया जा रहा है तो मुझे बहुत हर्ष हुआ। श्रीमती आशादेवी आर्यनायकम् का पत्र मुझे काफी देर से प्राप्त हुआ। उन्होंने लिखा था कि मुझे अवश्य जयपुर पहुँचना चाहिए।

जयपुर पहुँचते ही मैंने सबसे पहले आशादेवी से मिलना उपयुक्त समझा। वे बोलीं—"अब लोक-संस्कृति को आगे बढ़ाने में हमें सफलता मिलेगी।" मैंने हँसकर कहा—"मुझे तो आप लोगों से बहुत कुछ सीखना होगा। हाँ, यह कार्य मुझे इतना प्रिय है कि मैं इसमें जो भी सहयोग दे सकूं उसे कम ही समझूंगा।"

आशादेवी ने मुझे अपनी पुत्री से मिलाया जो बैठी एक घड़े पर कोई चित्र अंकित कर रही थी। यह वही कन्या थी जिसे मैंने शान्ति-निकेतन में देखा था। तब वह एक अबोध-बालिका थी। चौदह वर्ष पहले का वह दृश्य मेरी आंखों में फिर गया। शान्ति-निकेतन की एक कुटिया, जहां आशादेवी रहती थीं। एक साँझ की वेला। लोकगीत-सम्बन्धी चर्चा। यह चौदह वर्ष कैसे बीत गये?—एकाएक मेरे मन में यह प्रश्न उठा। जैसे यह कन्या, जो आज घड़े पर चित्र अंकित कर

रही थी, उसी लोक-कला की एक जीवित वस्तु हो जिसे जीवित रखने के लिए हम इतने उत्सुक थे।

"आर्यनायकम् नहीं आये ?"—मैंने आशादेवी से पूछ लिया।

"एक को तो सेवाग्राम में रहना चाहिए"—आशादेवी ने बड़ी आस्था से कहा।

नितान्त सादा वेश, प्रदर्शिनी का दायित्व, बापू-द्वारा प्रदर्शित रचनात्मक कार्यक्रम—बस इन्हीं सब रेखाओं द्वारा आशादेवी का चित्र अंकित किया जा सकता है। उनका आमन्त्रण मेरे लिए आदेश था, उन्होंने बार-बार कहा—"मैं सूचना भिजवा दूंगी। सभा में अवश्य आइए।"

अगले दिन दोपहर के पश्चात् मीटिंग रखी गई। आचार्य कृपलानी को इस सभा का प्रधान चुना गया। वे इन्कार भी तो नहीं कर सकते थे, हालांकि उनकी मुखमुद्रा से यही प्रकट हो रहा था कि अब उन्हें किसी भी सभा का प्रधान बनने की इच्छा नहीं रही।

हाँ, एक बात तो भूल रहा हूँ। मेरे साथ दो मित्र और भी थे। जब हम आशादेवी के स्थान से इस सभा के लिये चलने लगे तो कुमारी काला बोवा से भेंट करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। पता चला कि सुदूर लिथुआनिया में उसका जन्म हुआ। भारतीय संस्कृति और जीवन का अध्ययन करने के लिए वह इन्हीं दिनों इस देश में पहुंची थी। मैंने उससे पूछ लिया—"क्या लिथुआनिया की सभी कन्याएं तुम्हारे जैसी हैं ?" इसके उत्तर में वह केवल मुस्करा कर रह गई। मुझे सचमुच यों लगा कि कुमारी काला बोवा लिथुआनिया की लोक-कला की ही कोई जीवित कृति है। जैसे उसके मुख पर लिथुआनिया की धरती मुस्करा रही हो। उसकी आँखों से जैसे लिथुआनिया की संस्कृति झाँक रही हो। 'कैसे मन्त्र-मुग्ध हुए जा रहे हो!' एक साथी

कह उठा, और मैं फिर से सजग होकर सभा में दिये जा रहे भाषण को सुनने लगा।

देश के अनेक जनपदों से लोक-नृत्यों का प्रदर्शन करनेवाली मंडलियां 'सर्वोदय-प्रदर्शिनी' की ओर से बुलाई गई थीं। इस सभा में प्रत्येक मंडली के संयोजक से यह आशा की जा रही थी कि वह अपने जनपद की संस्कृति के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत करे। मैंने यह अनुभव किया कि प्रत्येक संयोजक अपने जनपद या प्रान्त को समूचे देश से अलग-थलग समझ रहा है। जैसे एक जनपद ने दूसरे जनपद से कुछ भी न लिया हो और वह अपने में पूर्ण हो।

इस सभा में मद्रास विश्वविद्यालय के संगीत के आचार्य साम्बमूर्त्ति का भाषण बहुत विद्वत्तापूर्ण रहा। उन्होंने बताया—'कि लोक-संगीत की भी अपनी एक वैज्ञानिक शैली है। इसके भी कुछ नियम हैं, जिनका अध्ययन किया जाना चाहिये।'

कुमारी काला बोवा बड़े ध्यान से इन भाषणों को समझने का यत्न कर रही थी। पर प्रत्येक संयोजक अपनी ही भाषा में बोल रहा था। आचार्य साम्बमूर्त्ति ने तामिल में भाषण दिया। बंगला, आसामी और जाने किस-किस भाषा में भाषण हुए। कुमारी काला बोवा के लिए विशेष रूप से प्रत्येक भाषा ने एक दीवार-सी खड़ी कर दी। वह समझना चाहती थी, पर वह विवश थी। फिर भी उसके मुख पर मुस्कान थी, जैसे वह कहना चाहती हो—जो कुछ यहाँ कहा जा रहा है कोई तो उसका मर्म बतायेगा ही!

मैंने कुमारी काला बोवा का ध्यान आकर्षित करते हुए कहा—"यदि मैं लिथुआनिया आऊँ तो कैसा रहे?"

वह बोली—"बहुत अच्छा रहे।"

मैंने कहा—"शायद वहां कोई मुझ से पूछे कि क्या सभी हिन्दु-

स्तानी तुम्हारे जैसे होते हैं?'

वह बोली—"क्यों नहीं? तुम मुझसे ऐसा प्रश्न पूछ सकते हो तो तुमसे भी कोई ज़रूर पूछ सकता है। हाँ, तो तुम क्या जवाब दोगे?"

मैंने कहा—"मैं छूटते ही कहूँगा कि सभी हिन्दुस्तानी मेरी तरह दाढ़ी नहीं रखते। पर ऊपर के इस अन्तर को जाने दीजिये, अन्दर से सभी हिन्दुस्तानी बहुत-सी बातों में एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं।"

कुमारी काला बोवा मुस्करा कर रह गई। जैसे कह रही हो कि मुझे उसके साथ लिथुआनिया चलने की तैयारी अभी से शुरू कर देनी चाहिए। उसने मुझे बताया कि लिथुआनिया के लोग अतिथि का सब से अधिक सम्मान करते हैं। मैंने उसे बताया कि आतिथ्य में हिन्दुस्तान भी किसी देश से पीछे नहीं।

झट मैंने अनुभव किया कि सभा में किसी तरह की कानाफूसी की गुंजाइश नहीं होनी चाहिए। फिर से सजग होकर मैं भाषण सुनने लगा।

थोड़ी देर बाद, मुख से कुछ कहे बिना, केवल संकेत द्वारा आशा-देवी ने मुझे समझा दिया कि मैं भाषण के लिए तैयार रहूँ, अगली बारी मेरी है।

इन्कार का तो प्रश्न ही नहीं उठ सकता था। ज्यों ही एक संयोजक ने अपना भाषण खत्म किया मैं उठकर मंच के समीप चला गया। मैंने यही बात ज़ोर देकर कही कि एक-एक जनपद माला के मनकों की तरह एक दूसरे में पिरोया हुआ है, और जहां तक लोक-संस्कृति या लोक-कला का सम्बन्ध है इसके अध्ययन से तो यही सिद्ध होता है कि न केवल भारत जैसा विशाल देश एकता के सूत्र में बँधा है, बल्कि विश्व के समस्त देश एक दूसरे से सम्बद्ध नजर आते हैं, क्योंकि लोक-संस्कृति या लोक-कला समूची मानवता को लेकर चलती है। जैसे देश-

देश की लोकश्री युग-युग से एक रही हो और एक रहने का निश्चय कर चुकी हो। अपने भाषण में मैंने कुमारी काला बोवा से हुई बातचीत की भी चर्चा की और कहा कि लोकश्री के रंगमंच पर तो सुदूर देशों के जन-मन की वाणी सुनी जा सकती है। शब्द और स्वर थोड़े भिन्न हो सकते हैं, रंग और रेखाएं भी थोड़ा-बहुत अन्तर प्रदर्शित कर सकती हैं; नृत्य में ताल-स्वर, हाथ-पैर की गति और मुख की मुद्रा में भी थोड़ा-बहुत भेद हो सकता है, पर इस समूचे सौंदर्यबोध के पीछे एकता की परम्परा हमारा ध्यान आकर्षित किये बिना नहीं रह सकती।

इस सभा में मंच से उठकर एक अमेरिकन महिला ने भी कुछ शब्द कहे। यह थी कुमारी आलतिया यंगमैन। उसने एक-दो गान सुनाये, जिन पर स्पष्ट रूप से हिन्दुस्तानी संगीत का प्रभाव नजर आता था। उसने भी मानवता की एकता का आदर्श स्वीकार किया।

फिर आचार्य कृपलानी का भाषण हुआ। उन्होंने लोक-संस्कृति और लोक-कला के सम्बन्ध में बहुत गहन अध्ययन प्रस्तुत किया।

इस सभा में यह तै किया गया कि 'लोक-संस्कृति-मंडल' की ओर से न केवल लोक-कला का संरक्षण किया जाय जिससे स्वतन्त्र भारत का गौरव बढ़े बल्कि इसे जीवित रखने के लिए इसे गांधी-जी द्वारा निर्देशित बुनियादी शिक्षा का एक अंग मानकर उसे प्रत्येक छोटे-बड़े जनपद में शिक्षा के कार्यक्रम में सम्मिलित किया जाय। समय-समय पर एक जनपद के अध्यापकों और कला-पारखियों के लिए विभिन्न जनपदों के कला-केन्द्रों में जाने की व्यवस्था की जाय।

वैसे तो 'सर्वोदय-प्रदर्शिनी' में प्रत्येक साँझ को लोक-नृत्यों के प्रदर्शन की व्यवस्था की गई थी, पर कांग्रेस अधिवेशन ख़त्म होने पर विषय-समिति के पंडाल में रात्रि के समय विभिन्न जनपदों के लोक-नृत्यों का कार्यक्रम रखा गया।

एक-एक नृत्य में इस विशाल देश की आत्मा पुलकित हो उठी। आधुनिक अर्थों में यह लोकश्री की विजय थी। जैसे एक-एक मण्डली अपने सारे रेकार्डों को तोड़ डालना चाहती हो। मैंने अनुभव किया कि कला की दौड़ में मेरा देश किसी से पीछे नहीं। यहाँ लोक-प्रतिभा का अभाव नहीं होगा। बीती शताब्दियों को बेधकर देखती हुई लोकश्री आज भी कितनी महान् थी।

जी चाहता था कि ये नृत्य ख़त्म न होने पायें, क्योंकि इनके ताल-स्वर में समूची मानवता अभिन्न नज़र आती थी, उत्तर और दक्षिण भारत के भेदों की तो बात ही क्या।

समय का रथ तो रुकता नहीं। पर किसी विशेष घटना की ओर मानव हृदय मुड़-मुड़कर देखता है। हृदय-पटल पर जाने कितने चित्र अंकित हो जाते हैं।

आज एक चित्र हज़ार चित्रों में से सिर उठाकर पुकारता है, जैसे कह रहा हो—"क्यों, याद है वह अधिवेशन, वह प्रदर्शिनी, वह लोकश्री?

अच्छे-भले आदमी की बात

उसका नाम मत पूछिये। हाँ, उसकी कहानी सुन लीजिये।

देखने में वह बहुत बुरा आदमी नहीं। बात करता है तो उसकी आंखें चमक उठती हैं। उस समय उसका ठिंगना कद भी भला लगता है। उसे कोई आदमी जल्दी-जल्दी पसन्द नहीं आता। पसन्द आने पर भी वह उसे एक-आध उपदेश तो करेगा ही—अरे भई, तुम यह हो, तुम वह नहीं हो—वह जोर देकर कह उठेगा। तुम चाहो तो उसकी बात काट डालो, फिर भी वह बराबर पहली बात को दोहराता रहेगा।

जब मैं पहले-पहल उससे मिला, मैंने उसके सम्मुख कवि चण्डीदास की विख्यात् सूक्ति गुनगुनाने लगा—

शुन हे मानुष भाई,
सबार उपरे मानुष सत्य,
ताहार उपरे नाइ!

वह बोला—इसका अर्थ कुछ-कुछ तो मैं भी समझ गया।"

मैंने कहा—"चण्डीदास ने कितनी बड़ी बात कह दी है—मनुष्य का सत्य सबसे ऊपर है, उससे ऊपर कोई नहीं!"

उसने जैसे बागडोर सँभालते हुए कहा—"इसीलिए तो मैं कहता हूँ कि तुम हमेशा याद रखो कि कहानी लिखना तुम्हारे बस का रोग नहीं। तुम तो वही लिखो जो तुम लिख सकते हो, अर्थात् जो तुम्हें सचमुच लिखना चाहिये, नहीं तो......"

"नहीं तो मनुष्य का सत्य सबसे नीचे हो जायगा," मैंने व्यंग्य के अन्दाज में कहा, "पर भई, सच पूछो तो मैं तो एक-आध उपन्यास भी लिखना चाहता हूँ।"

"उपन्यास?" वह कह उठा, "अरे भाई भगवान का नाम लो। बस यह बात समझ लो कि तुम्हारा असली रूप तो दूसरा ही है। गाड़ी को पटरी से मत उतरने दो।"

मैंने चिल्लाकर कहा—"भाड़ में जाय मेरा असली काम। कहानी और उपन्यास मानो मुझे स्वयं अपनी ओर बुला रहे हैं। फिर मैं कैसे जीवन के एक ही छोर को थामे रखूं?"

वह बराबर यही कहता चला गया कि हर कोई तो कहानी नहीं लिख सकता, हर कोई तो उपन्यास को हाथ नहीं लगा सकता।

यह बहुत पहले की बात है। उन दिनों उसका विवाह भी नहीं हुआ था। मैं चाहता तो विवाह के सम्बन्ध में उसे वैसे ही खबरदार रहने को कहता जैसे वह बार-बार मुझे कहानी या उपन्यास की ओर से सतर्क करता रहता था। पर मैं यह सोचकर चुप रहा कि आखिर उसे एक अच्छे-भले आदमी की तरह अपने ही ढंग का प्रयोग करने की छूट क्यों न हो। उन दिनों वह स्वयं कुछ नहीं लिखता था। पूछने पर यही कहता—"विवाह से पहले कोई क्या लिखेगा? लिखने के लिए

चाहिये भाषा। सो भाषा तो मेरे पास है। पर अकेली भाषा से क्या होता है? भाव भी तो चाहिये। यहां मैं अटक जाता हूँ; क्योंकि मैं सोचता हूँ कि मेरा अनुभव अभी कच्चा है!" मैं इसके उत्तर में यही कहता—" तुम्हारा विवाह तो एक दिन हो ही जायगा। फिर लिखना मजे से।" वह कहता—"अच्छे-भले आदमी को यही राय देनी चाहिये।"

यह अच्छे-भले आदमी की बात मुझे बार-बार चण्डीदास की याद दिला देती और मैं बड़े चाव से गुनगुनाने लगता—शुन रे मानुष भाई, सबार उपरे मानुष सत्य, ताहार उपरे नाइ!

एक दिन उसका विवाह भी हो गया, पर मुझे उस समय यह समाचार मिला जब कि इस बात को सात महीने बीत चुके थे। मैंने हँसकर कहा—"भई मिठाई खिलाओ, नहीं तो चण्डीदास की सूक्ति झूठ हो जायगी। सबसे ऊपर है मनुष्य का सत्य—यह चण्डीदास का कथन है।"

वह हँसकर बोला—"और तुम कहते हो—सबसे ऊपर है मिठाई! भले आदमी, तुम पहले कहां थे? मैंने यह नियम रखा कि विवाह के बाद पांच महीने तक जो भी आ पहुँचा उसे ही मैंने मिठाई खिला दी। अब तो सात महीने हो गये। कोई भला आदमी कब तक मित्रों को मिठाई खिलाता रहे?"

खैर, मिठाई आई और मजे की दावत रही। सब से मजे की बात यह थी कि इस अवसर पर उसकी पत्नी भी मौजूद थी जिसे वह अभी तक दुल्हन समझता था। स्वयं तो ठिंगना था ही, दुल्हन भी ठिंगनी थी। मैंने उसके चुनाव की मन ही मन दाद दी। वाह दुल्हा भैया!—मैं कहना चाहता था—एक ओर तुम्हारा चेहरा है गोल-मटोल-सा, इधर दुल्हन भी तो एकदम गेंद-सी है। वाह वाह! जोड़ी मिल गई। किसी भी भले आदमी को ऐसी ही दुल्हन मिलनी चाहिये!

दुल्हन के सामने मैं सकुचा कर रह गया। पर यह तो मैंने पूछ ही लिया—"कहिये इन्हें लिखने की ओर भी अग्रसर किया या नहीं?"

दुल्हन मेरे व्यंग्य को बिलकुल नहीं समझ पाई। इस पर दुल्हा भैया बोले—"अरे भई, थोड़ा देखने दो, समझने दो। ऐसी भी क्या जल्दी है! किसी भी भले आदमी को इस प्रयोग में थोड़ी देर तो लगती ही है।"

दुल्हन के लिए कदाचित् यह सब एक पहेली थी। बोली—"यह कोई पुरानी बात होगी, पर मैं भी तो सुनूं!"

मैंने कहा—"विवाह से पहले तो आपके पति महोदय यह सोच कर कुछ नहीं लिखते थे कि एक भले आदमी के पास जब तक कहने को कुछ न हो उसे कुछ नहीं लिखना चाहिये और अब तो उन्हें अवश्य कुछ लिखना चाहिये।"

"जी हां, अवश्य लिखना चाहिये।" दुल्हन कह उठी।

उस समय मुझे एक बात सूझ गई। मैंने कहा—"आपके पति महोदय लिखें न लिखें, आप ही कुछ लिखिए!"

वह बोली—"मुझे तो लेखनी थामने का भी अभ्यास नहीं। इन्हीं से कहिये जो हर समय बड़ी-बड़ी बातें किया करते हैं।"

ख़ैर, उस दिन तो यहीं पर छुट्टी मिल गई कि मैं एक आसामी लोकगीत सुना दूं जिसमें 'बिहू' उत्सव की चर्चा की गई थी। मैंने वह गीत हू-ब-हू सुना दिया। पर दुल्हन कुछ भी तो न समझ सकी। मैंने इस शर्त पर इसका अर्थ सुनाना स्वीकार किया कि बदले में दुल्हन मुझे सात पंजाबी लोकगीत सुना दे। मेरे मित्र को यह शर्त पसन्द न आई। मैंने कहा—"अब मुफ्त में तो मैं भी आसामी लोक-गीत का अर्थ सुनाने से रहा।"

मेरा मित्र बीच-बिचाव के अन्दाज में कह उठा—"एक गीत की

बात हो तो वह सुनाया भी जा सकता है।"

दुल्हन ने वह गीत सुनाया जिसमें पति अपनी पत्नी से कहता है कि आधी रात के समय तुम कहां गई थीं। पत्नी कहती है—मैं बावड़ी से पानी लेने गई थी। पति कहता है—पानी की ऐसी भी क्या आवश्यकता थी कि इतनी रात गई ? इस पर पत्नी कहती है—पानी की कुछ ऐसी ही आवश्यकता पड़ गई थी।

मैंने अपने मित्र से कहा—"तुम चाहो तो इसी गीत को लेकर कुछ लिख सकते हो।"

वह बोला—"अभी नहीं। पर वह समय आयेगा अवश्य।"

मुझे यों लगा जैसे कोई चण्डीदास के कान में कहे—यह जो तुम कहते हो कि सबसे ऊपर है मनुष्य का सत्य, इसे हम अभी नहीं मान सकते, पर कुछ दिन बाद हम अवश्य इस सत्य को स्वीकार कर सकेंगे।

ख़ैर, मैंने भी उस आसामी लोकगीत का भावार्थ अपने मित्र की पत्नी को सुना दिया जिसमें किसी ने यह शिकायत की थी कि उस के पास 'बिहू' त्यौहार के अनुरूप नये वस्त्र नहीं हैं और अब 'बिहू-बिहू' की रट लगानेवाले 'बिहू' पक्षी की आवाज भी उसे भली नहीं लगती। फिर वह कहता है कि जब मित्र लोग आकर पूछेंगे कि तुम 'बिहू' के लिए क्यों नहीं चलते तो मैं कहूंगा—मेरी मां मर गई !

मेरे मित्र ने कहकहा लगाकर कहा—"अब तुम चाहो तो इसी गीत को लेकर पूरा निबन्ध लिख डालो !"

मैंने अपने मित्र को राय दी कि वह कम बोला करे, क्योंकि मेरा विश्वास था कि इससे उसे लेखनी उठाने में मदद मिल सकती है। यह बात उसकी पत्नी को भी पसन्द आई जो पिछले सात महीनों से उसकी बातें सुनते-सुनते एकदम तंग आ गई थी। पर मेरे मित्र को

मेरा परामर्श पसन्द न आया। बोला—"बोलना तो मेरा जन्म-सिद्ध अधिकार है!"

मैंने कहा—"पर घर में और स्कूल में कम बोलने का अभ्यास किया जा सकता है।"

इस पर वह बिदक कर कह उठा—"पहले तो किसी भले आदमी ने मुझे यह राय नहीं दी। सब तो इसीलिए मेरी प्रशंसा करते हैं कि मैं सब बात खोलकर कह देता हूं।"

मैंने कहा—"पर कला इसमें है कि कुछ कहा जाय और कुछ बचाकर रख लिया जाय, अर्थात् कुछ सुननेवाले के लिए भी छोड़ दिया जाय। लिखते समय भी सब बात नहीं लिख डालनी चाहिये, क्योंकि यदि पढ़नेवाले के लिए कुछ भी न छोड़ा जाय तो वह एकदम झुंझलाकर कह उठेगा—यह सब बातें लिखने की क्या जरूरत थी?"

उसकी पत्नी ने भी दबी-दबी-सी आवाज में शिकायत की कि यदि उसका पति किसी तरह कम बोलने का अभ्यास कर ले तो वह बहुत भला आदमी सिद्ध हो सकता है। पर मेरे मित्र को तो यह बात एकदम नापसन्द थी। फिर भी जाने क्या सोचकर वह कह उठा—"मुझे लिखना तो अभी आया नहीं, पर लिखना सीखने के लिए यदि बोलना कम करना पड़े तो ऐसे लिखने को मेरा अभी से प्रणाम!"

× × ×

बहुत दिन बीत गये और मुझे अपने मित्र से मिलने का सौभाग्य प्राप्त न हुआ। इस बीच में मैं भी लम्बी यात्राओं से मुंह मोड़कर एक दफ्तर में आ गया। पहले एक दफ्तर, फिर दूसरा दफ्तर। पहले से दूसरा दफ्तर इस दृष्टि से जरूर अच्छा लगा कि यहां कुछ साहित्यिक काम करने का अवसर मिलने लगा। सम्पादन-कार्य का मुझे बहुत अधिक अभ्यास तो नहीं था। ख़ैर, किसी तरह काम चल गया।

कई बार ख्याल आता है कि यदि मेरा वह मित्र मिल जाय तो उसकी कोई रचना भी अवश्य प्रकाशित करूं। हां, एक शर्त अवश्य लगाऊं कि यह अच्छी होनी चाहिये। रिआयती नम्बर लेकर पास होने-वाले विद्यार्थी की दशा मेरे मित्र की हो, यह बात मुझे पसन्द न थी।

एक दिन अचानक मेरे कमरे को चिक उठाकर मेरा मित्र भीतर आया। मैंने उठकर उसका स्वागत किया। चाय मँगाई। अच्छी खासी दावत हुई। मैंने पूछा—"कहिए, कैसे कष्ट किया ?"

वह बोला—"एक रचना लाया हूँ !"

"वाह वाह !" मैंने हँसकर कहा, "तो आपने लिखना शुरू कर दिया।"

"जी हां," वह बोला, "वह दिन आ गया जिसकी आपको प्रतीक्षा थी।"

पता चला कि उसे उस स्कूल से निकाल दिया गया है, जहां वह पढ़ाता था। उसे यह भी बताना पड़ा कि यदि उसने मेरी बात पहले से मान ली होती तो वह अवश्य अपनी नौकरी को सलामत रख सकता था। अधिक बोलने का दोष लगाकर ही उसे निकाला गया था। विद्यार्थी तंग आ गये थे। उन्होंने बार-बार शिकायतें कीं। आख़िर उसे नौकरी से निकाल दिया गया। मैंने कहा—"तो यह लेख आपका प्रथम लेख है।"

इस पर वह पन्द्रह मिनट तक सारी बात स्पष्ट करता रहा। मैंने उसके हाथ से लेख छीनकर उसे पढ़ डाला। लेख पर उसका अपना नाम नहीं था। किसी देवीजी का नाम था।

"यह किसका नाम है ?" मैंने पूछ लिया, "क्या यह आपकी पत्नी का नाम है ?"

वह बोला—"प्रायः लोग स्त्रियों की लिखी हुई चीज अधिक चाव

से पढ़ते हैं इसलिए मैंने यह तै किया है कि मैं अपनी पत्नी के नाम से लिखा करूँ।"

मुझे यह लेख एकदम नापसन्द था। वही पुराना दोष था। सारी बातें कह डाली गई थीं, कुछ भी तो पढ़नेवाले की समझ पर नहीं छोड़ा गया था। लेख लौटाते हुए मैंने कहा—"इसे आप जहां भी भेजेंगे, यह छप जायगा।"

उसने लेख लेकर रख लिया और हँसकर कहा—"तब तो मैं डाक से आपके पास ही भेजूंगा, क्योंकि आपका आशीर्वाद तो मिल ही गया!"

वह भला आदमी बहुत देर तक बोलता रहा। सावित्री ने यम से वरदान प्राप्त कर लिया था। ऐसे ही मेरे मित्र ने भी एक सम्पादक का आशीर्वाद प्राप्त कर लिया। यदि उसने वह लेख दोबारा मेरे पास भेज दिया तो मैं क्या कह कर इसे वापस करूंगा ? इस पर मुझे यही लिखना पड़ेगा—ओ अच्छे-भले आदमी ! सबसे ऊपर है मनुष्यका सत्य और उससे ऊपर कोई नहीं !

आधुनिक हिन्दी साहित्य

एक लोकगीत—'हे नदी ! जब तुम किनारे को तोड़ती हो तो एक ही किनारे को तोड़ती हो, पर जब मन अपने किनारे को तोड़ने लगता है तो एकसाथ दोनों किनारों को तोड़ डालता है।' साहित्य के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। सामाजिक परिस्थितियां बदलती हैं तो साहित्यकार का मन पुराने बन्धनों को स्वीकार करने से मुँह मोड़ लेता है और युगान्तर की अभिव्यक्ति के लिए नये साहित्य के सृजन और मूल्यांकन की बात सामने आ जाती है।

बीसवीं शताब्दी का प्रारम्भ भारतीय भाषाओं के साहित्य में समान रूप से नवीन सन्देश लाया। हिन्दी साहित्य के इतिहास में तो वस्तुत: बाद के पचास वर्षों में विशेषरूप से उन्नति हुई है। डा० अमरनाथ झा ने भारतीय भाषाओं के आधुनिक साहित्य की चर्चा करते हुए कहा है—''गेटे के समय में ज र्मनी में साहित्यिक वृद्धि का जो प्रचुर विकास और प्रस्फुटन हुआ था, उसे छोड़-कर साहित्यि के इतिहास में, मेरी समझ में कोई दूसरा काल नहीं हुआ है जिसकी तुलना उस अद्भुत

उन्नति से की जा सके जो कि हमारी आधुनिक भाषाओं ने इस थोड़े समय में की है।"

गत पचास वर्षों में सबसे बड़ा परिवर्तन तो यह हुआ कि हिन्दी कविता की भाषा एकदम बदल गई। जहां पहले ब्रजभाषा का साहित्यिक साम्राज्य स्थापित था वहां खड़ी बोली आ गई। यह कोई सहज बात न थी। पर हिन्दी साहित्यकारों को यह समझते देर न लगी कि ब्रजभाषा के दिन अब बीत गये और यदि हिन्दी कविता ने अपना माध्यम न बदला तो उसकी प्रगति रुक जायगी।

गद्य का युग बड़े ज़ोर-शोर से आया। स्पष्ट है कि इस आन्दोलन की पृष्ठभूमि में अंग्रेज़ी शिक्षा का प्रभाव ही सबसे अधिक था। नाटक की ओर तो भारतेन्दु-युग में ही कार्य आरम्भ हो चुका था। अब उपन्यास, कहानी, निबन्ध और आलोचना का प्रसार होने लगा तो साहित्यिकार ने सोचा कि कविता की भाषा भी गद्य की भाषा के समीप आ जाय तो अच्छा होगा।

इसी युग में हम मैथिलीशरण गुप्त को उभरते देखते हैं। पन्त, महादेवी, प्रसाद और निराला भी इसी युग में हमारे सम्मुख आते हैं। मैथिलीशरण की कविता का केन्द्रबिन्दु तो आज भी धार्मिक और राष्ट्रीय भावनाओं के पुनरुत्थान का प्रतीक है। पन्त, महादेवी, प्रसाद और निराला छायावाद और रहस्यवाद के प्रतिष्ठाता बने। इनमें भी महादेवी आज वहीं खड़ी हैं जहां शुरू-शुरू में खड़ी नज़र आई थीं। यह नहीं कि उन्होंने ज़रा भी उन्नति नहीं की। उनकी भाषा पहले से कहीं अधिक परिष्कृत हो गई। शब्द-संगीत में भी वे अग्रसर हुईं। पर जहां तक छायावादी एवं रहस्यवादी भावना का सम्बन्ध है, आज भी वे इससे मुक्त नहीं हो सकीं। अपने गीतों में वे या तो आँसू बहाती हैं या तन्मयता की अवस्था में 'किसी' की बाट जोहती हैं। यही उनकी कविता है। इसके विपरीत पन्त और निराला दोनों बड़े वेग से आगे की ओर

बढ़े। पन्त तो ख़ैर 'ग्राम्या' और 'युगवाणी' तक बढ़ने के पश्चात् अनेक आलोचकों के मतानुसार 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि' में फिर पीछे की ओर हट गये। उनका आक्षेप यह है कि जहां वे 'ग्राम्या' और 'युगवाणी' में यथार्थवादी और प्रगतिशील विचारधारा को प्रस्तुत करने में समर्थ हुए थे, वहां 'स्वर्णकिरण' और 'स्वर्णधूलि मे वे फिर से धार्मिक और राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति करते समय न केवल एक प्रकार को प्रतिक्रिया के शिकार हो गये हैं, बल्कि उनकी कविता में हल्का-सा छायावाद फिर से उभरता नज़र आता है। निराला की बात दूसरी है। वह एक बार पग उठाकर पीछे हटना तो जानता ही नहीं। प्रसाद अब हमारे बीच में नहीं रहे। पर 'कामायिनी' एक सर्वोत्तम खंड-काव्य के कवि के रूप में सदैव उनका स्मरण दिलाती रहेगी। स्पष्ट है कि खड़ी बोली से तो इतना ही इंगित मिलता कि कविता की भाषा में ब्रज-भाषा के स्थान पर वही पद्य की भाषा आ गई। पर गद्य की भाषा का भी तो इसी युग में विकास हुआ। अतः हमारे कवियों के हाथों में कविता की यह नई भाषा भी अनेक प्रयोगों में से गुज़री, वैसे ही जैसे गद्य की विभिन्न शैलियों ने जन्म लिया। जिस प्रकार गद्य की भाषा में संस्कृत का सम्पर्क बढ़ा उसी प्रकार कविता की भाषा में भी संस्कृत शब्दावली से बहुत सहायता ली जाने लगी।

शायद यह बात अब कुछ लोगों को पसन्द न आये, पर यह सत्य है कि आधुनिक हिन्दी साहित्य बंगला साहित्य का चिरऋणी रहेगा। शुरू-शुरू में बँगला के अनेक उपन्यासों के हिन्दी-अनुवादों का प्रचार रहा। बल्कि इसमें बहुत हद तक अतिरेक भी हुआ, क्योंकि अनुवादक महोदय यह देखना भूल जाते थे कि जिस उपन्यास को वे हिन्दी में प्रस्तुत करने जा रहे हैं उसका साहित्यिक स्तर ऊँचा भी है या नहीं। इसी प्रकार बँगला कविताओं के भी हिन्दी में अनूदित करने

की शायद इसीलिए कोई आवश्यकता नहीं समझी गई थी कि हमारे कवि जो कुछ लिखते थे उसमें बंगला कविता की छाप तो रहती ही थी ।

खैर, इतना तो बड़े आराम से कहा जा सकता है कि आधुनिक हिन्दी कविता की भाषा आधुनिक बँगला कविता की भाषा की विशेषरूप से ऋणी है । रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कविता का सबसे अधिक प्रभाव पड़ा । पन्त की कविता पर तो आरम्भ से ही रवीन्द्र-काव्य का प्रभाव नजर आता है । निराला के विषय में यह बात और भी जोर देकर कही जा सकती है । मेरा संकेत विशेषरूप से संस्कृत शब्दावली तक ही सीमित नहीं, भाव और छन्द-शैली को भी इसी के अन्तर्गत समझना चाहिये ।

हिन्दी के अतिरिक्त अनेक भारतीय भाषाएं रवीन्द्र-काव्य की ऋणी हैं । जैसा कि राहुल सांकृत्यायन ने इसकी विवेचना करते हुए लिखा है—"भारत के लिए रवीन्द्र एक और भारी महत्त्व रखते हैं। वे भारत के साहित्य के इतिहास में एक नये युग के प्रवर्त्तक हैं । सिर्फ बंगला भाषा ही के साहित्य में नहीं, सारी भारतीय भाषाओं के साहित्यों में, चाहे आप हिन्दी, पंजाबी, गुजराती, मराठी, उड़िया जैसी उत्तर की इन्डो-यूरोपीय भाषाओं को लीजिए, या दक्षिण की तेलगू, कन्नड़ जैसी द्रविड़ भाषाओं को । मैं यहाँ सबसे अधिक बोली जानेवाली तथा बारह सदियों से सुन्दर समृद्ध साहित्य रखनेवाली हिन्दी भाषा का उदाहरण देता हूँ । बीसवीं सदी के द्वितीय दशाब्द में पहुँचने पर उसके पथ में कई समस्याएं उठ खड़ी हुई थीं, ऐसी समस्याएं जिनको दूर किये बिना वह एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकती थी । ये समस्याएं थीं शब्दों के चुनने, सजाने के सम्बन्ध में, छन्द और अलंकारों के रूढ़िबद्ध सिद्धान्तों के सम्बन्ध में, विश्व-साहित्य

से सम्बन्ध स्थापित करने के सम्बन्ध में, हिन्दी की इस समस्या का हल किया निराला और उनके साथी कवियों—प्रसाद और पन्त ने। इस कार्य में पथ-प्रदर्शन किया रवीन्द्र की कविता ने। हां, पथ-प्रदर्शन का अर्थ अनुकरण नहीं समझना चाहिए। अनुकरण के बल पर उच्च साहित्य का निर्माण नहीं हो सकता। हमारे नवयुग-प्रवर्त्तक कवि हिन्दी कविता में कुछ त्रुटियों का अनुभव कर रहे थे, उन्हें पहचानने में रवीन्द्र की कविता ने सहायता की। फिर उन्होंने भी उन्हें दूर करने का सफल प्रयत्न किया। यही बात दूसरी भारतीय साहित्यिक भाषाओं के सम्बन्ध में है।"

गद्य-साहित्य में सबसे अधिक कार्य प्रेमचन्द ने किया। यह कहना उपयुक्त होगा कि कहानी के क्षेत्र में वे अधिक सफल हुए। 'कफन' में उनकी कला अपने शिखर पर नजर आती है। उपन्यासों में 'गोदान' सर्वोत्तम है। पर इसमें भी उसी स्थल पर उनकी लेखनी अधिक प्राणवान हो उठती है जहां वे ग्रामीण भारत की आत्मा को छूती है। नवीन उपन्यासकारों में यशपाल, अज्ञेय, अश्क और भगवतीचरण वर्मा के नाम प्रमुख हैं।

गत पचास वर्षों के हिन्दी-साहित्य में नाटक शायद सबसे पिछड़ा हुआ विषय है। फिर भी कुछ अच्छे एकांकी अवश्य मिल जायँगे।

आलोचना ने भी अभी अधिक उन्नति नहीं की। आवश्यकता इस बात की है कि साहित्यकार स्वयं अपने आलोचक बनें। प्रकाशित होने से पूर्व वे एक दूसरे को अपनी रचनाएं सुना सकें, ऐसी सुविधाएं उन्हें प्राप्त हों। एक दूसरे की आलोचना करते उन्हें डरना नहीं चाहिए।

यदि कवि-सम्मेलनों तक ही कविता सीमित रहती तो हमें निराला के दर्शन कैसे हो सकते थे? वही कवि साहित्यिक प्रयोगों में प्रगति कर सकते हैं जिन्हें कवि-सम्मेलन के रंगमंच पर किये जानेवाले कंठ-

व्यायाम का अधिक मोह नहीं। इसी प्रकार गद्य के क्षेत्र में भी वही साहित्यकार युग की अभिव्यक्ति कर सकते हैं जिनका दृष्टिकोण संकीर्ण नहीं, जो कुंठित अहंवाद के दल-दल में भी नहीं गिरते, और जो विश्व-साहित्य की अग्रगामी शक्तियों के साथ सम्पर्क बनाये रखने के ध्येय को भी नहीं भुलाते।

चिर-नूतन चित्र

अनेक चित्र देख लिये, एक चित्र और सही। श्री नन्दलाल बसु द्वारा अंकित काले पट पर श्वेत रेखाओं में प्रस्तुत किया हुआ यह चित्र और उसके नीचे आइंस्टाइन के ये शब्द—'आनेवाली पीढ़ियां मुश्किल से ही विश्वास करेंगी कि कभी कोई रक्त-मांस का ऐसा व्यक्ति भी इस धरती पर चलता-फिरता था!' यह चित्र गान्धीजी की प्रसिद्ध डाण्डी-यात्रा का है। हाथ में लाठी है। पग आगे उठ रहे हैं। कितनी गति है इस चित्र में, और आइंस्टाइन ने भी जैसे इसी चित्र को देखकर अपनी श्रद्धांजलि अर्पित की हो।

उधर अवध का कोई लोक-कवि गान्धीजी का चित्र प्रस्तुत करता है—

लेबै स्वराज सही रे सही!
मिलि गांधी और नेहरू,
एकहि बात कही रे कही।

मिलि सत्याग्रह करो,
गांधी कै बात यही रे यही ।

जैसे यह भी गांधीजी की डाण्डीयात्रा का ही चित्र हो। स्वराज की धुन, सत्याग्रह का प्रण, गांधी और नेहरू की मिली-जुली कोशिशें । यही तो अवधी लोकगीत की गूंज है जो कभी मिट नहीं सकती । स्वराज मिल गया । सत्याग्रह सफल हुआ । इसका श्रेय जनता को है जिसने गांधीजी का साथ दिया । यह गूंज अब लोकगीत में कायम रहेगी । स्वराज मिल गया, पर गांजीजी हमारे बीच में मौजूद नहीं, यह सोचकर आंखें भर आती हैं । भीगी आंखों से हम चित्र की ओर देखते हैं । चित्र वही है, पर हमारे लिए इसकी रेखाएं नई ही प्रेरणा दे रही हैं ।

अवधी लोक-कवि इसी पर बस नहीं करता । वह कहता है—

भारतवासी सोवन लागे,
घर घर में घुसर गये चोरा, कि वाह वाह !
गांधी बाबा आन जगाये,
इतने में ह्वै गये भोरा, कि वाह वाह !
अँखिया पसारि कै देखन लागे,
कौड़ी एकौ न छोड़ा, कि वाह वाह !
रुपया पैसा असरफी लै गये,
लै गये भरि भरि झोरा, कि वाहवाह !
चरखा लेके सरोजिनी दौरीं,
भर-भर भागे गोरा, कि वाह वाह !

इस चित्र में भी वही जानी-पहचानी रेखाएं हैं । गुलाम देश सोया पड़ा है । चोर बढ़-बढ़कर देश की सम्पत्ति पर हाथ साफ कर रहा है ।

देश का एक पहरुआ जाग उठता है। यह पहरुआ कौन है? यही तो गांधीजी हैं, जिनका चित्र अब जन-जन के हृदय-पटल पर अंकित रहेगा।

गांधीजी का एक चित्र वह भी है जिसमें वे रवीन्द्रनाथ ठाकुर से भेंट कर रहे हैं। गुरुदेव की ऊँची भव्यमूर्ति अतिथि के स्वागत में झुक गई है। एक ओर गुरुदेवके सफेद बालहैं, लम्बी दाढ़ी है, भव्यता बढ़ानेवाला चोगा है। दूसरी ओर गांधीजी का नपा-तुला खादी का लिबास। सचमुच वह साहित्य और राष्ट्रीयता की मिलन-झांकी है। शान्ति-निकेतन में गांधीजी का आगमन—यह शान्ति-निकेतन का सौभाग्य था। यह चित्र बहुमूल्य है। इसका राष्ट्रीय महत्त्व कभी कम होने का नहीं।

एक और चित्र भी है। गांधीजी परेशान हैं। न जाने वे क्या ढूंढ़ रहे हैं। पूछने पर वे कह उठते हैं—"मेरी पेन्सिल कहाँ गई? छोटी-सी है।" "छोटी-सी पेंसिल के लिए इतनी परेशानी तो नहीं होनी चाहिए। लीजिए, कोई अपनी जेब से पेंसिल निकालकर गांधीजी के हाथ में थमा देता है। वे उसे लौटा देते हैं—"नहीं, नहीं, मेरी वही छोटी पेंसिल मुझे चाहिए!" वह व्यक्ति फिर कहता है—"आप इसे लीजिए। आपकी पेंसिल मैं ढूंढ़कर रखूँगा। आपका वक्त नाहक ज़ाया होता है!" इसके उत्तर में वे कह उठते हैं—"वह छोटी पेंसिल मैं खो नहीं सकता। तुम्हें मालूम है, वह तो मुझे मद्रास में नटेसन के छोटे लड़के ने दी थी? कितने प्यार से ले आया था वह! उसे कैसे खो सकता हूँ?" आखिर वह पेंसिल मिल जाती है और गांधीजी के मुख पर मुस्कान थिरक उठती है। इस दो इंच लम्बे पेंसिल के टुकड़े के लिए उन का प्रेम अभिनन्दनीय है, क्योंकि यह उनके उस स्नेह का प्रतीक है जो छोटे-से छोटे मुलाकातो के प्रति भी सजग रहता था।*

चित्रों की तो कुछ भी कमी नहीं। १९१६-१७ की एक घटना

है। वे गुजरात के अन्तर्गत एक परिषद् में गांधीजी ठीक समय पर पहुँच जाते हैं, पर लोकमान्य तिलक, जिन्हें विशेष रूप से आमंत्रित किया गया था, कुछ देर से पहुँचते हैं। गांधीजी बड़े आदर सेलोकमान्य का स्वागत करते हुए कह उठते हैं—"यदि स्वराज्य प्राप्त करने में आधे घण्टे की देर हुई तो उसके लिए लोकमान्य जिम्मेदार गिने जायँगे!" इसी परिषद् में एक और घटना भी हुई, जिसका चित्र अलग महत्त्व रखता है। परिषद् का पहला प्रस्ताव था—"हम हिन्द के बादशाह के प्रति राजनिष्ठा जाहिर करते हैं...।" यह सब इसलिए था, क्योंकि उन दिनों वही किसी भी राजकीय सभा का मंगलाचरण था। गांधीजी यह प्रस्ताव पढ़ते हैं और इसे टुकड़े-टुकड़े करते हुए कहते हैं—"ऐसा प्रस्ताव पास करना बेहूदापन है। जब तक हम बगावत नहीं करते, हम राजनिष्ठ हैं ही। उसके ऐलान की जरूरत ही क्या? किसी स्त्री ने कभी अपने पति के पास अपने पतिव्रता होने का ऐलान किया है? उसने शादी की है, उसका अर्थ ही यह है कि वह पतिव्रता है।" कार्यकर्त्ताओं की अवाक् मुद्रा देखकर गांधीजी कह उठते हैं—"अगर किसी ने पूछा कि राजनिष्ठा के प्रस्ताव का क्या हुआ तो बेशक कहिए गांधी ने रोक दिया!"

सन् १९२६-२७। गांधीजी उड़ीसा पहुँचते हैं। ईंटामाटी—यही उड़ीसा के उस ग्राम का नाम है। गांधीजी व्याख्यान देते हैं। लोग अपनी-अपनी भेंट प्रस्तुत करते हैं। कोई कुम्हड़ा लाता है, कोई बैंगन, कोई जंगल की भाजी। कुछ गरीब अपने चीथड़ों से निकालकर कुछ पैसे भी देते हैं। एक व्यक्ति सभा में घूम-घूमकर पैसे इकट्ठे कर रहा है। पैसों पर जंग लगी है, जिससे इस व्यक्ति के हाथ हरे हुए जा रहे हैं। वह अपने हाथ गांधीजी को दिखाता है और वह कुछ बोल नहीं सकता। दूसरे दिन उड़ीसा के खेतों में घूमते समय गांधीजी अपने-अपने सहयोगी से कहते हैं—"जी चाहता है कि मरण की घड़ी में उड़ीसा में आकर

इन लोगों के बीच मरूं। उस समय जो लोग मुझे यहां मिलने आयेंगे, वे तो इन लोगों की करुण दशा देखेंगे। किसी न किसी का तो हृदय पसीजेगा और वह इनकी सेवा के लिए यहां स्थायी हो जायगा।

उड़ीसा की इसी यात्रा की एक और घटना भी कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं। गांधीजी चारबटिया पहुँचते हैं। यहां जो लोग उनकी वाणी सुनने आते हैं, उनके चेहरों पर जरा भी तो चैतन्य नहीं। गांधीजी पैसे के लिए झोली फैलाते हैं। लोग कुछ न कुछ निकालकर देते हैं। पैसे इकट्ठे करनेवाले व्यक्ति के हाथ फिर पैसों की ज़ंग से हरे हो जाते हैं। रुपये तो शायद इन लोगों ने छुए ही नहीं थे। उनके पास ले-देकर यही तांबे के पैसे ही थे। ये भी बड़ी मुश्किल से हाथ आते थे। जभी तो वे इन्हें खर्चना नहीं चाहते थे। बहुत दिन तक इन्हें बांध रखने या ज़मीन में गाड़ने के कारण इन पर ज़ंग की तह चढ़ जाती थी। वह व्यक्ति गांधीजी से पूछता है—"इन लोगों से ऐसे पैसे लेकर क्या होगा?" इसके उत्तर में वे कह उठते हैं—"इसके द्वारा यहां की निराश जनता के हृदय में भी आशा का अंकुर उगा है। यह पैसा उसी आशा का प्रतीक है।"

ऐसे अनेक चित्र उभरते हैं, जिनमें गांधीजी का व्यक्तित्व एक-एक रेखा द्वारा फैलता है। चित्र अनेक हैं, पर हैं तो एक ही व्यक्ति के चित्र, जिसने दबे-पिसे जन-जन को ऊपर उठाया और स्वतंत्रता की भाषा में बोलना सिखाकर उन्हें फिर से गौरवान्वित किया।

ओ स्वतन्त्रता सेनानी चित्र, शत-शत अभिनन्दन! इन रेखाओं में देश का हृदय सदैव धड़कता रहेगा। ये उस व्यक्ति के चित्र हैं जिसने जन-जन की पीड़ा का अनुभव किया, जिसने प्रत्येक जनपद को अपने पैरों से नापा, जिसने जन-जन की भाषा को 'सत्याग्रह' और 'स्वराज' जैसे शब्द दिये।

ओ चिर-नूतन चित्र, तुझे शत-शत प्रणाम।

सुमित्रानन्दन पन्त

युग के प्रतिनिधि-कवि के रूप में श्री सुमित्रानन्दन पन्त के व्यक्तित्व की अनेक विशेषतायें हैं। आधुनिक हिन्दी कविता उनकी चिरऋणी रहेगी। किस प्रकार वे भावना-तत्त्व को लेकर आगे आये; सौन्दर्यबोध के प्रयोग, छायावादी कविता का नेतृत्व, फिर देखते-देखते छायावादी कविता की परम्परा से आगे बढ़ने की प्रवृति का विकास—ये हैं कुछ रेखायें जिनके द्वारा पन्त का चित्र हमारे सम्मुख महत्त्वपूर्ण हो उठता है।

पन्त का जन्म सन् १९०० में हुआ। उनकी कविता का मूलस्रोत है हिमालय। एक स्थान पर कवि ने स्वयं इसका उल्लेख किया है—"मेरे कवि-जीवन के विकास-क्रम को समझने के लिए पहले मेरे साथ हिमालय की प्यारी तलहटी में चलिये। आपने अलमोड़े का नाम सुना होगा। वहाँ से बत्तीस मील और उत्तर की ओर चलने पर आप मेरी जन्मभूमि कौसानी में पहुँच गये। वह जैसे प्रकृति का रम्य शृंगार-गृह है, जहाँ कूर्माचल की पर्वत-श्री एकान्त में बैठकर अपना पल-

पल परिवर्त्तित साज सँवारती है। आज से चालीस साल पहले की बात कहता हूँ। तब मैं छोटा सा चंचल भावुक किशोर था। मेरा काव्य-कण्ठ अभी तक फूटा नहीं था। पर प्रकृति मुझ मातृहीन बालक को कवि-जीवन के लिए मेरे बिना जाने ही जैसे तैयार करने लगी थी। मेरे हृदय में वह अपनी मीठी, स्वप्नों से भरी हुई चुप्पी अंकित कर चुकी थी जो पीछे मेरे भीतर अस्फुट तुतले शब्दों में बज उठी। पहाड़ी पेड़ों का क्षितिज न जाने कितने ही गहरे-हल्के रंगों के फूलों और कोंपलों में मर्मर कर मेरे भीतर अपनी सुन्दरता की रंगीन सुगन्धित तहें जमा चुका था[1]।"

कवि ने स्वयं स्वीकार किया है कि वह छुटपन से ही जनभीरु और शरमीला था। बरफ की ऊँची चमकीली चोटियाँ; इन्द्र-धनुष की रंगीन रेखायें; फेनों के झरने; हिमालय का आकाश-चुम्बी सौन्दर्य; एक विराट् व्यापक आनन्द का सन्देश—यह सब जैसे कवि के मन में भरे हुए अवाक् सौन्दर्य को वाणी को शत-शत झंकारों-द्वारा मुखरित करने के लिए उत्सुक रहता था।

पन्द्रह-सोलह वर्ष की आयु में कवि ने लेखनी के प्रयोग आरम्भ कर दिये थे। उस समय तक वह मध्ययुग की कविता से परिचित हो चुका था। नई कविता में 'भारत-भारती' ने उसे विशेषरूप से प्रभावित किया। कवि के इस आरम्भिक प्रयोग-काल की रचनाएं साप्ताहिक 'अलमोड़ा अख़बार' और मासिक पत्रिका 'मर्यादा' में प्रकाशित हुई थीं। जैसा कि कवि ने स्वयं बताया है, सन् १९१८—२० तक की कविताएं 'वीणा' नामक काव्य-संग्रह में सुरक्षित हैं। आगे चलकर कवि के मानस-पटल पर सरोजिनी नायडू और रवीन्द्रनाथ ठाकुर की

---

१ 'प्रतीक' (४), पृ० २७

कविता का गहरा प्रभाव पड़ा। सन् १९१९ में, जब कवि बनारस में था, उसने मूल बँगला में रवीन्द्रनाथ का अध्ययन आरम्भ कर दिया। उधर 'रघुवंश' के विशाल प्रासादों और गवाक्षों ने भी कवि की कल्पना को बार-बार छू लिया। इन्हीं दिनों कवि ने 'ग्रन्थि' खण्ड-काव्य प्रस्तुत किया जिसका कथानक दुःखान्त है। सन् १९१९ में कवि कालेज में प्रवेश करने के लिए प्रयाग आया, जब कवि ने शेली, कीट्स और टेनिसन के अध्ययन द्वारा शब्द-चयन और ध्वनि-सौन्दर्य का बोध प्राप्त किया। 'पल्लव' की कविताएं यहीं से शुरू होती हैं। सन् १९२१ के असहयोग-आन्दोलन में कवि ने कालेज को अन्तिम प्रणाम किया और 'उच्छवास' की रचना की। फिर उसने 'आँसू' प्रस्तुत किया।

कवि ने स्वयं लिखा है—"'पल्लव' की छोटी-बड़ी अनेक रचनाओं में जीवन के और युग के कई स्तरों को छूती हुई, भावनाओं की सीढ़ियाँ चढ़ती हुई तथा प्राकृतिक सौन्दर्य की झांकियाँ दिखाती हुई मेरी कल्पना 'परिवर्त्तन' शीर्षक कविता में मेरे उस काल के हृदय-मन्थन और बौद्धिक संघर्ष की विशाल दर्पण-सी है जिसमें 'पल्लव' युग का मेरा मानसिक विकास एवं जीवन की संग्रहणीय अनुभूतियाँ तथा राग-विराग का समन्वय बिजलियों से भरे बादल की तरह प्रतिबिम्बित है। इस अनित्य-जगत् में नित्य-जगत् को खोजने का प्रयत्न मेरे जीवन में जैसे 'परिवर्त्तन' के रचना-काल से प्रारम्भ हो गया था। 'परिवर्त्तन' उस अनुसन्धान का प्रतीक मात्र है। हृदय-मन्थन का दूसरा रूप आपको आगे चलकर 'गुंजन' और 'ज्योत्स्ना' काल की रचनाओं में मिला है।"

इसके पश्चात् हम पन्त को 'युगान्त' के कवि के रूप में देखते हैं। एक युग का अन्त हुआ; दूसरे युग का आरम्भ हुआ। फिर कवि 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' लेकर खड़ा नजर आता है। यहाँ हम कवि

को प्रगतिशील साहित्य के आन्दोलन में सक्रिय रूप से प्रविष्ट होते देखते हैं। श्री शिवदान सिंह चौहान ने कवि की नूतन रचनाओं का स्वागत करते हुए लिखा है—"'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की कविता साहित्य में 'भविष्यवाद' की कविता है। रूसी समाजवादी क्रान्ति के समय वहां भविष्यवाद की कविता सर्वप्रधान थी......पन्त की 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' की कविताओं में रूसी भविष्यवाद की कविताओं की सी मांसल-रक्तिम कला नहीं है; लेकिन उसमें नूतन की बौद्धिक कल्पना अवश्य है [1]।"

'युगवाणी' का कवि नये विचार और नये भाव प्रस्तुत करता है, लगे हाथ वह नये सौन्दर्य-मूल्यों और नये जीवन-सम्बन्धों की चर्चा शुरू कर देता है। जैसे एक नई चेतना से पुलकित होकर कवि गा उठता है—

खुल गये छन्द के बन्ध
प्रास के रजत-पाश,
अब गीत मुक्त
औ' युगवाणी बहती अयास।

'युगवाणी' का कवि नई मानवता और नई संस्कृति की बात सोचता है, जिसमें मृत आदर्शों के बन्धन नहीं होंगे, जिसमें श्रेणी—वर्ग का विभाजन भी नहीं होगा, न जन-श्रम-शोषण ही कहीं नजर आएगा। इसीलिए तो वह कहता है—

आज मनुज को खोज निकालो
जाति वर्ण संस्कृति समाज से

---

१ प्रगतिवाद, पृष्ठ ६१

मूल व्यक्ति को फिर से चालो

कवि 'जागो श्रमिको बनो सचेतन' की टेर लगाता है और कह उठता है—'साक्षी है इतिहास—आज होने को पुनः युगान्तर!' सृजनात्मक तत्त्व पर सर्वत्र ज़ोर दिया गया है। दार्शनिक दृष्टिकोण कवि का ध्रुव-केन्द्र है। नूतन की कल्पना में कवि तन्मय हो गया है—

कवि नवयुग की चुन भावराशि
नव छन्द आभरण रस-विधान
तुम बन न सकोगे जन-मन के
जाग्रत भावों के गीत-यान ?

जब 'युगवाणी' प्रकाशित हुई तो कुछ क्षेत्रों में इसका विरोध भी हुआ। इस पक्ष के आलोचकों के मतानुसार 'युगवाणी' पन्त की कला के ह्रास का प्रतीक थी, क्योंकि इसमें बुद्धिवाद के माध्यम-द्वारा गद्य को ही कविता के वस्त्र पहना दिये गये थे। इस पक्ष का सब से बड़ा आक्षेप यह था कि पन्त की भाषा दुरूह हो गई है और वह लोक-प्रतिभा को बिलकुल नहीं छू पाती।

जहाँ तक भाषा का सम्बन्ध है कवि को चाहिए कि वह जानबूझ कर दुरूह शब्दों का प्रयोग न करे क्योंकि सामूहिक भावना की अभिव्यक्ति के लिए तो यह और भी आवश्यक है कि कवि जनता की भाषा के निकट रहे। 'ग्राम्या' में पन्त की भाषा इतनी दुरूह नजर नहीं आती। इसका एक कारण यह भी है कि इसमें शुष्क सिद्धान्तवाद नहीं है, बल्कि यथार्थ चित्रण की ओर कवि अग्रसर हुआ है। कवि सोचता है कि ग्राम की पृष्ठभूमि में आनन्द और सौन्दर्य की कमी नहीं, पर अकेला मानव ही यहाँ जीवन-मृत नजर आता है। ग्राम-युवती

खल-खल हँसती है, मटकती है, लचकती है, पनघट पर केलि करती है, पर उसके यौवन-उन्माद को देखकर कवि कह उठता है—

रे दो दिन का उसका यौवन !

... ...

दु:खों से पिस, दुर्दिन में घिस
जर्जर हो जाता उसका तन !

कवि ग्राम-नारी की प्रशंसा करता है। भावी मानवी की जीवित मूर्ति ढालते समय ग्राम-नारी के गुण कवि को पुलकित कर देते हैं—

'ग्राम्या' में 'कठपुतले' 'गांव के लड़के' 'वह बुड्ढा' और 'वे आँखें' यथार्थवादी चित्रण की सफल कविताएं हैं। 'संध्या के बाद' में गांव के बनिये का चित्र प्रस्तुत किया गया है, जो निम्न मध्य वर्ग का प्रतिनिधि है, जिसके विचार उदार हैं, कर्म कुत्सित हैं; एक व्यक्ति के चित्र में कवि की तूलिका द्वारा एक समूचे वर्ग का चित्र उभरता है जिसकी एक-एक रेखा एक जोरदार व्यंग्य पर केन्द्रित हो जाती है। 'धोबियों का नृत्य' और 'चमारों का नृत्य' लोक-कला की शक्ति का समर्थन करती हैं; किस प्रकार लोक-कला की परम्परा क्रांतिकारी भावना की अभिव्यक्ति में सहायक हो सकती है, इसका कवि को पूर्ण विश्वास है। लोक-कला में वर्ग-कला की सी चमक-दमक भले ही न हो, पर इसके स्पर्शमात्र से गांव का मृत-जीवन फिर से सजग हो उठता है। 'कहारों का रौद्र नृत्य' भी एक सफल कविता है। इसमें नृत्य का चित्रण नहीं है, पर कवि के मन पर यह नृत्य जो छाप डालता है उसी को हम देख पाते हैं। कवि का विश्वास है कि कला उसी अवस्था में जीवित रह सकती है जब वह वर्गों की सीमाओं को लाँघ कर समूची मानवता की कला बन जाय। 'ग्रामश्री' 'गंगा',

'खिड़की से' और 'रेखाचित्र' में प्रकृति-चित्र अंकित किये गये हैं। 'ग्राम-देवता' में कवि कहता है कि जो आदिकाल में अभिराम था जिसने मानव को मोह-मुक्त करते हुए प्रकृति के अन्ध प्रकोपों से रिहाई दिलाई थी, वही सामन्त-युग में रूढ़ि-धाम बन गया, और आधुनिक युग में वह एकदम पाखण्डी, आचरणहीन, पतित और अन्ध-विश्वासी नजर आता है। अब उसे कोई अपना पथ-प्रदर्शक कैसे बनाये? 'महात्माजी के प्रति' और 'बापू' में कवि ने एक महान् व्यक्तित्व को श्रद्धांजलि अर्पित की है।

'ग्राम्या' की सर्वोत्कृष्ट कविता है 'भारतमाता'। श्री शिवदानसिंह चौहान ने इस कविता का मूल्यांकन करते हुए लिखा है—"पन्त की 'भारतमाता' वास्तविक भारतमाता है, वर्ग-माता नहीं। वह उन तीस करोड़ भारतीयों की माता है, जिन्हें हम किसान-मजदूर कहते हैं, जो ग्रामों में निवास करते हैं, जो पीड़ित और शोषित हैं। पन्त की भारत-माता भी उन्हीं की तरह निर्धन और पीड़ित है, उन्हीं की तरह ग्राम-वासिनी है—वह सच्ची भारतमाता की मूर्ति है। इस भारतमाता का 'धूल-भरा मैला-सा श्यामल अंचल' खेतों में फैला हुआ है, 'गंगा-जमुना में' उसका 'आँसूजल' भरा हुआ है, वह 'मिट्टी की प्रतिमा' के सदृश 'उदासिनी' है, उसकी चितवन नत है, जिसमें दैन्य भरा है, अधरों में 'चिर नीरव रोदन' है, उसका मन 'युग-युग के तम' से विषण्ण हो रहा है, आज वह अपने ही घर में 'प्रवासिनी' बनी हुई है। उसकी तीस कोटि सन्तान नग्न-तन, अर्द्धक्षुधित, शोषित और निरस्त्र है, मूढ़, असभ्य, अशिक्षित और निर्धन है, उसका मस्तक नत है, यह प्रवासिनी माँ आज तरुतल की निवासिनी बनी हुई है। उसकी धन-सम्पदा विदेशियों के पैरों के नीचे कुचली जा रही है, उसका सहिष्णु मन धरती की तरह कुण्ठित हो रहा है, उसके क्रन्दन-कम्पित अधरों पर कम्पित मौन हास्य

है, जो पूर्णिमा के चन्द्र की तरह हास्यमयी थी, वहआज 'राहुग्रस्त' है। जो कभी गीता-प्रकाशिनी थी आज ज्ञान-मूढ़ है ! लेकिन उसका तप-संयम आज सफल हो रहा है, अहिंसा का सुधोपम स्तन्य पिलाकर वह आज जन-मन का भय-निवारण कर रही है, भय के तम का भ्रम दूर कर रही है[1] ।"

'राष्ट्रगान' भी 'ग्राम्या' की एक विशेष वस्तु है। इसमें एक सफल सामूहिक गान के सभी गुण मिलते हैं—

जन भारत हे
जागृत भारत हे
कोटि-कोटि हम श्रमजीवी सुत
संभ्रम युत नत हे !

स्वतन्त्र भारत का जनमन इस राष्ट्रगान के प्रति सदैव गर्व अनुभव करेगा। 'वर्गमुक्त हम श्रमिक कृषक जन' की टेर उज्जवल भविष्य की परिचायक है, जब सब सुखी, सब बराबर समाज की नींव रखी जायगी।

'युगवाणी' और 'ग्राम्या' के सम्बन्ध में स्वयं पन्त का वक्तव्य है—"कला की दृष्टि से 'युगवाणी' की भाषा अधिक सूक्ष्म (एब्स्ट्रैक्ट) है जो कि बुद्धि-प्रधान काव्य का एक संस्कार एवं अलंकार भी है। उसमें विश्लेषण का बारीक सौंदर्य मिलता है। 'ग्राम्या' में वही शैली जैसे अधिक भावात्मक होकर खेतों की हरियाली में लहलहा उठी है[2] ।"

इधर पन्त की नवीन रचनाओं के दो संग्रह 'स्वर्ण-किरण' और 'स्वर्ण-धूलि' प्रकाशित हुए हैं। कवि की दीर्घ अस्वस्थता के बाद ये संग्रह हमें मिले हैं। अतः इनका स्वागत करते हुए हमें विशेष हर्ष

---

१ 'प्रगतिवाद,' पृष्ठ ८०--८१

प्रतीक (४), पृष्ठ ३२।

हो रहा है। एक स्थान पर कवि ने स्वयं लिखा है—" 'स्वर्ण-किरण' में स्वर्ण का प्रयोग मैंने नवीन चेतना के रूप में किया है। उसमें मुख्यतः चेतना-प्रधान कविताएं हैं। 'स्वर्ण-धूलि' का धरातल अधिकतर सामाजिक है, जैसे वही नवीन चेतना धरती की धूलि में मिलकर एक नवीन सामाजिक जीवन के रूप में अंकुरित हो उठी हो। 'स्वर्ण-किरण' में मैंने पिछले युगों में जिस प्रकार सांस्कृतिक शक्तियों का विभाजन हुआ है उनमें समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया है। उसमें पाठकों को विश्व-जीवन की एवं धरती की चेतना-सम्बन्धी समस्याओं का दिग्दर्शन मिलेगा। भिन्न-भिन्न देशों एवं युगों की संस्कृतियों को विकसित मानववाद में बांधकर भू-जीवन की नवीन रचना की ओर संलग्न होने का आग्रह किया है[1]।'

'स्वर्ण-किरण' की 'संक्रमण' शीर्षक कविता में कवि कह उठता है—

रह गया इतिहास, विज्ञान,
दर्शन, सहस्र शास्त्र,
सभ्यता के ब्रह्मास्त्र !
खो गई एकता
व्याप्त है अनेकता !

....

खो गई मानवता !
खो गई वसुंधरा !
नहीं सत्य सहृदयता,
नहीं नहीं विश्वम्भरा !
आओ हे नव नूतन,
स्वर्ण युग करो सृजन

---

१ 'प्रतीक' (४), पृष्ठ ३४

दादा-दादी के रेखाचित्र

भले ही यह मेरे मित्र सरदार गुरबख्शसिंह की दादी का रेखा-चित्र हो, मुझे तो यों लगता है कि मेरी अपनी दादी का रेखा-चित्र भी हू-ब-हू इससे मिलता है। शायद कोई पूछ बैठे कि दो भिन्न चित्रों की रेखाओं में यह सादृश्य कैसे स्थापित हो गया। मैं इस प्रश्न का उत्तर देना आवश्यक नहीं समझता। अभी कल तक तो यही देखने में आता था कि दो दादियों में कोई विशेष अन्तर नहीं, वही आचार-विचार, वही मर्यादा, वही सांस्कृतिक पृष्ठभूमि। जैसे एक की दादी दूसरे की दादी की ठीक-ठीक प्रतिलिपि हो।

मैंने अपने दादा का चित्र न दिखाया होता तो शायद मेरे मित्र को ख्याल ही न आता कि वह अपने उस लेख की चर्चा करे जिसमें उसने अपनी दादी की चर्चा की थी। वह लेख अंग्रेज़ी में था, पंजाबीमें होता तो शायद मुझे और भी अच्छा लगता। मैंने कहा —"इसे पंजाबी में अवश्य लिखिये, बल्कि मैं तो समझता हूँ कि इसे हिन्दी में भी प्रस्तुत करना चाहिए।"

"वह आप कीजिये बड़े शौक से," मेरा मित्र कह उठा, "मुझे तो इससे खुशी ही होगी।

"इसे कोई देखे न देखे," मैंने कहा, "मैं इसे अवश्य हिन्दी-साहित्य-जगत् के सम्मुख रख दूंगा।"

अमेरिका से भारत लौटते समय मेरे मित्र की दादी का रेखाचित्र एक ईसाई महिला को बेहद पसन्द आया था। मुझे याद है कैसे मेरे मित्र ने अपनी दादी का रेखाचित्र पढ़ कर सुनाया था—

"मेरी वृद्धा दादी का निवासस्थान है पंजाब का एक ग्राम। ग्रामीण वातावरण में हँस-खेल कर ही वह इतनी बड़ी हुई है—आज वह कितनी एकरूप तथा एकरस हो गई है, ग्राम्य दृश्यपट के साथ, जैसे उसका व्यक्तिगत जीवन इससे कोई पृथक् वस्तु न होकर इसी का एक अंग-विशेष है। उसकी जीवन-वाटिका में पूरे सात कम एक सौ वसन्त आ चुके हैं। उसके डील-डौल में कोई खास विशेषता नहीं है। मुश्किल से वह साढ़े चार फुट ऊंची होगी, पर वह कितनी सौभाग्यवती है, उस कमलिनी के समान, जिसका पुण्य-स्पर्श करती न हों वसन्त-कालीन सूर्य-रश्मियां। कितनी सुशीला है वह, उस मन्दाकिनी की भांति ही जो पुष्प-उद्यान में से गुजरती है, और नये-नवेले पौधों की जड़ें चूमती चलती है।"

"क्या कहा—किस धर्म की अनुयायिनी है वह? पुरातन ढंग की सिख नारी है। परिवर्त्तनशील जगत् उसे उसकी आधार-शिला को हिलाने से लाचार है। समय के उतार-चढ़ाव में से गुजर कर भी उसने अपनी अनुभूतियों को हाथ से नहीं जाने दिया! उसका हृदय अपनी ही जगह पर दृढ़ रहता है, संगमरमर के बने उस स्मृति-मन्दिर की भांति ही, जो अहर्निश परिवर्त्तनशील समय-चक्र पर मुस्कराता है, जिसकी दाल और कहीं भले ही गले, पर उसके समीप कभी नहीं।

गलती।

"वह सोती है, जागती है, खाती है-और उपवास रखती है। इन सभी स्थितियों पर धर्म का रंग चढ़ा रहता है। प्रत्येक काम को वह भक्तिपूर्वक ही हाथ लगाती हैं, वह भक्ति की ही साकार मूर्ति हैं। उसका धर्म तर्क-वितर्कमय बुद्धिवाद नहीं, उसने इसे जीवन-मन्त्र का साकार रूप दे रखा है।

"कोई मुझसे यह प्रश्न न करे कि उसका व्यक्तित्व सत्य के कितना समीप है, या कि उसकी विचार-धारा में विद्वत्ता का अंश कितना है। मैं तो केवल उसके सरल, निष्कपट और उदार जीवन का ही अभिनन्दन करने चला हूँ, जिसके पीछे एक स्नेहमय हृदय है—उसके इस स्नेहमय हृदय में वह शान्ति बसती है जिसकी सब किसी को ही प्यास लगी रहती है।

"देश की पुरातन संस्कृति की एक-एक परम्परा का पालन वह अत्यन्त श्रद्धापूर्वक करती है। आप कह सकते हैं, वह विश्वास की पुजारिन है, पर उसके अन्धविश्वास में भी पवित्रता की मिठास छिपी रहती है। क्या मजाल है कि उसके द्वार से कोई अतिथि असन्तुष्ट हो कर लौटे। इसे वह आनेवाली विपत्ति का पेशखेमा समझती है। उसे किसी अभ्यागत का तिरस्कार बिलकुल असह्य है। इससे उसकी भोली भाली आत्मा बिलबिला उठती है। इसे वह निकट भविष्य में आनेवाली दरिद्रता का सूचक समझती है।

"हर पूर्णमासी को वह उपवास रखती है। भले-बुरे सगुनों में उसे पूर्ण विश्वास है। सुबह-शाम वह माला फेरती है और अपने भगवान का नाम जपती है। केवल सुबह-शाम की ही बात नहीं, घर के काम-धन्धे से फारिग होती है तो मानों वह अपने भगवान को बिलकुल अपने समीप बैठा देखती है। वह कितनी विचारशीला है, कितनी मृदुभाषिणी,

कितनी सुहासिनी। क्रोध तो मानों उसे आता ही नहीं। घर के एक भाग में है उसका उपासना-मन्दिर। इस मन्दिर का प्यारा नाम है 'गुरु-द्वारा'। अपने शयनगृह की सफाई में वह भले ही सुस्त हो जाय, पर क्या मजाल कि उसका हृदय 'गुरुद्वारे' के प्रति लापरवाह रह सके। इसकी देख-रेख में वह हमेशा चौकस रहती है। गुरुद्वारे के फर्श पर एक सादा गलीचा बिछा है और दीवारों पर शोभायमान गुरुओं और सन्तों के अभिनन्दनीय चित्र हैं। बीच में एक सुसज्जित तथा नयनाभिराम तख्तपोश विराजमान है, पर 'गुरु ग्रंथ'। इसके एक ओर सुगन्धित धूप सुलग रही है और दूसरी ओर अजब अन्दाज से रखा हुआ है चांदी का शमादान। इनके सिवा यहां अन्य एक भी वस्तु नहीं जो मेरी वृद्धा दादी की श्रद्धामयी आंखों को अपनी ओर आकर्षित कर सके। पुनीत विचारों के इस साधना-मन्दिर में किसी ऐसे व्यक्ति को पदार्पण करने की आज्ञा नहीं, जो गुरु के प्रति अपनी आन्तरिक भक्ति का परिचय देते हुए अपने मस्तक-द्वारा गुरुद्वारे के फर्श का पुण्य स्पर्श करने के लिये तैयार न हो।

"गुरु ग्रन्थ को वह स्वयं नहीं पढ़ सकती, उसे हमेशा आवश्यकता पड़ती है किसी ऐसे सज्जन की, जो प्रातःकाल इससे पूर्व कि वह अन्न-भगवान का सेवन करे, उसे गुरु ग्रन्थ से दो एक जीवन-पद पढ़ सुनाये।

"क्या हुआ, यदि वह लिखना पढ़ना नहीं जानती। उसे अनेक कथाएं और गीत स्मरण हैं, जिन्हे सुनने के जादू-भरे चाव में हम अपने शैशव-काल में घंटों मस्त रहा करते थे। रात के आनन्दमय समय में, जब निद्रादेवी हमें थपकियां दे-देकर सुला देती थी, हम बहन-भाई अपनी वृद्धा दादी से अनेक कथाएं सुना करते थे, परियों की और भूतों की कथाएं, डाकुओं और वीरों की कथाएं। और इनमें सर्वोत्तम कथा थी उस राजपुत्री की, जो हँसती थी तो उसके मुख से सफेद

गुलाब झड़ते थे। और बारी-बारी प्रत्येक गुलाब एक-एक गुलाब-पेड़ बनता जाता था। और समय पाकर के उस साम्राज्य में चारों ओर बाग ही बाग लग उठते थे।

"प्रकृतिदेवी के प्रति मेरी वृद्धा दादी के हृदय में अपार भक्ति तथा श्रद्धा विद्यमान है। उन दिनों जब हमारे ग्राम के किसान अपने-अपने खेतों में हल चलाते हैं और फिर बीज बोते हैं, ताकि भूमिमाता शत-शत बार मुस्करा उठे, और सब ओर हो जाय अन्न ही अन्न, मेरी वृद्धा दादी भी अपने गुरुद्वारे मे एक निश्चित स्थान पर गेहूँ के सौ-पचास दाने बो देती है। गर्भवती माता की उस आनन्दमयी उत्कंठा के साथ ही, जिससे वह अपने उदर के दिन-दिन बढ़ते शिशु का अनुभव करती है, मेरी वृद्धा दादी गेहूँ के दानों को पल्लवों में परिणत होते देखती है। समय-समय पर वह गुरुद्वारे में जाती है और बिल्कुल एकान्त अवस्था मे जब चारों ओर निस्तब्धता होती है, मानों गेहूँ के हरे-हरे पल्लवों से वार्त्तालाप करती है। इनके सम्मुख वह दीपक जलाती और मस्तकनत होकर सुबह-शाम अपने गुरु का यश-गान करती है।

"उन दिनों जब ये पल्लव पीले पड़ जाते हैं, और मुरझाने लगते हैं, अत्यन्त श्रद्धापूर्वक वह एक-एक करके उन्हें उखाड़ती है और मानो उन्हें सम्बोधन करके कुछ कहती भी जाती है। इसके पश्चात् वह उन्हें सत्कारपूर्वक उस छोटी नदी के किनारे ले जाती है, जो हमारे ग्राम का अंचल छूती हुई नाचती चलती है। मुख से आलाप करती है गुरुग्रन्थ के पुनीत पदों का, और हृदय में उस माता की सी अनुभूति लिये है, जिसका पुत्र-रत्न परदेश की राह ले रहा हो। वह खास अन्दाज से इन पल्लवों को जल पर तैरने के लिए छोड़ देती है। उनके साथ ही रहता है गुंधे हुए आटे का बना एक घी का दिया, जो उन्हें उस समय, जब कोई भटकती हुई प्रकाश-रेखा भी उनका अंचल न

छुयेगी, उन्हें पथ दिखला सके।

"घर लौटकर वह पड़ोस की सुकुमारी बालिकाओं को बुला भेजती है। स्वयं अपने हाथों से वह उनके पैर धोती है। कहती है—ये पवित्रता की देवियां हैं। गिनी-चुनी भोजन-सामग्री द्वारा वह उनका सत्कार करती है। कुछ समय पूर्व जब उसके हाथ इतने बूढ़े नहीं हुए थे, वह इन पवित्रता की देवियों के लिये भोजन-सामग्री स्वयं अपने हाथों से तैयार करती थी।

"वह उषा के साथ ही जाग उठती है और हर रोज उदय होते सूर्य को नमस्कार करती है। शाम को उसकी आँखें नील गगन की ओर उठती हैं, और जब रात हो जाती है, तो वह नमस्कार करती है सुनहले चाँद को और ध्रुव को, जिसे वह चिर-स्थिर सत्य का चिह्न समझती है।

"दूज का चांद है उसका प्रियतम आनन्द-धाम। इसे उदय होते देखने के लिए वह छतपर चढ़ जाती है, और नये-नवेले चाँद की रजत-कमान का दर्शन करने के लिए उसकी बूढ़ी आंखें निहारती हैं धुंधले बादलों के सफेद-सफेद अंचलों की ओर, जो उसके विश्वासानुसार दूज के चाँद को छिपाने के लिये एक दूसरे से बढ़ चढ़कर शरारत किया करते हैं। पड़ोस की किसी छत से जब कोई उल्लासपूर्ण स्वरों में कह उठता है—वह निकला, वह निकला... तो वह और भी बेचैन हो उठती है और कांपती हुई आवाज में हमें पुकारती है—दौड़ो, दौड़ो, गुरुबख्श, गुरुचरण, गुरदयाल! दौड़ो दौड़ो, और मुझे भी दिखाओ मेरा चांद। बताओ, बताओ, मुझे भी बताओ कि कहां है मेरा चांद? आह! सब उसे देख चुके हैं, पर न हो सका मुझे अभी तक उसका दर्शन। हम उसके पीछे जा खड़े होते हैं उसकी बाहें पकड़ लेते हैं। और उसका हाथ पकड़कर आकाश की ओर उठाते हैं और कहते हैं—वह देख, दादी,

दूज के चांद की रजत कमान। फिर हम खिलखिलाकर हँस पड़ते हैं एक स्वर से। इधर-उधर, आकाश पर सब ओर वह आंख भरकर देखती है, पर नहीं मिलता उसे उसका प्यारा चांद; नहीं मिलता। ठहर-ठहर कर कहती जाती है—कहां है, कहां है, मेरे बच्चो, कहां है मेरा चांद? आह! कितनी बूढ़ी हो गई हैं मुझ पकी हुई जामुन की आंखें। इन्हें अब मेरा प्यारा चांद भी नहीं दिखाई देता।

"आखिर जब बिखरे हुए आकाश पर चांद साफ दिखलाई देने लगता है, हमारी बूढ़ी दादी भी उसे देख लेती है। आनन्द-विभोर होकर वह शिशु-सुलभ उल्लास से मस्त होकर उछल पड़ती है और संगीतपूर्ण स्वर से चांद को सम्बोधन करती हुई कह उठती है—"सत्त सिरी अकाल"। चांद की ओर ताकती हुई वह जलपूर्ण पात्र को उंडेल कर मानो शिशु-चांद का मुंह धुलाने के लिए जल भेजती है, और इसके पश्चात् शिशु-चांद का मुंह मीठा कराने की सरल धारणा से वह हम बच्चों को, जिन्हें वह अपने आंगन के चांद समझती है, मिठाई बाँटती है। वह चाँद की ओर प्रेमपूर्वक ताकती हुई अपने भगवान के सम्मुख प्रार्थना करती है, और हम हास्य-विभोर होकर उसके गंभीर मुख की ओर निहारते हैं। चांद से निबटकर वह बारी-बारी हमें चूमती है और आशीर्वाद देती है, 'ज्योंदे रहो, जुयानिया माणों' अर्थात् चिरंजीव रहो बेटो! युग-युग यौवन का रसास्वादन करो।

"छत से नीचे आकर वह बारी-बारी से घर के प्रत्येक कमरे में जाती है, और परिवार के छोटे-बड़े सभी सदस्यों को नवीन चांद का नमस्कार कह सुनाती है। कितनी आशाएं बँधी हैं उसे मेरी पत्नी को शीघ्रातिशीघ्र किसी शिशु की माता बनते देखने के लिए। आठ वर्ष होने को आये मेरा विवाह हुए, पर मेरी पत्नी की कोख इस लम्बे समय में एक बार भी नहीं भरी। जब वह मेरी बूढ़ी दादी के पांव

पड़ती है तो वह मधुर स्वर में कह उठती है—'दुद्धी न्हामें, पुत्ती फलें, बुड्ढ सुहागन होमें'। अर्थात् ईश्वर करे तू चिरकाल तक दूध में स्नान करे, अनेक पुत्ररत्नों से फले-फूले और वृद्धावस्था-पर्यन्त सधवा रहे। इसके बाद उसकी ममतामयी वाणी करुण-रस से सिंच जाती है और वह कहती है—चल बच्ची, चल, छत पर चल और आकाश पर उस सुदूर चांद को देख। कितना सुन्दर है यह, अभी-अभी जन्मे बच्चे का-सा है न। जब तक तेरी गोद हरी नहीं होती, इसी रुपहले चांद का दर्शन किया कर। एक दिन तेरी कोख से भी ऐसा ही चांद उदय होगा। मैं इसे देखती-देखती ही हुई हूँ इतनी बूढ़ी। यही है मेरी हरी-भरी आशाओं का प्रतीक। मैंने इसे जब भी देखा है, मेरा हृदय आनन्द में मग्न हो उठा है।

यह सन् १६३४ की बात है, जब सीमाप्रान्त में अकाली फूलसिंह की समाधि पर मैं सर्वप्रथम सरदार गुरुबख्शसिंह से मिला। 'प्रीतलड़ी' का सम्पादन उन्होंने उसी वर्ष आरम्भ किया था। मुझे याद है पंजाबी भाषा की उस पत्रिका के किसी अंक के परिशिष्ट में उन्होंने अपनी दादी का अंग्रेज़ी में लिखा हुआ रेखाचित्र प्रकाशित किया था। उन्होंने इस रेखाचित्र की अन्तिम टिप्पणी में बताया था—"चार वर्ष होने को आते हैं, जब अपने ग्राम की रौनक, मेरी वृद्धा दादी आराम की नींद सोई और ऐसी सोई कि फिर न उठी। उस दिन उसकी आयु एक सौ वर्ष की थी।"

इस हिसाब से मेरे मित्र की दादी का देहान्त सन् १६३० में हुआ होगा। यह किस महीने और किस दिन की बात है, यह मैं नहीं पूछ सका था।

मेरे मित्र की दादी का रेखाचित्र सुन्दर भी है और महत्त्वपूर्ण भी। इससे मुझे प्रेरणा मिली है। इसे देखकर भला कौन यह कहने

का साहस करेगा—अगले वक्तों के हैं ये लोग, उन्हें कुछ न कहो !

अपने मित्र की दादी का ध्यान करते ही मुझे अपने दादा का ध्यान आ जाता है। जैसे आज भी मेरे दादा मेरी कल्पना के कला-भवन में बैठे मुस्करा रहे हों, जैसे वे आज भी मुझ से कह रहे हों—मेरे लिए एक भुट्टा भून लाओ ना। हाँ, मुझे याद है कि मृत्यु से दो दिन पहले ही उन्होंने मुझसे भुट्टा मांगा था। मैंने बड़े प्रेम से भुट्टा भूनकर उनके हाथों में थमा दिया था। वे भुट्टा खा पाये थे या नहीं, मैं कुछ नहीं जानता। उस समय उनकी आयु पूरे १०५ वर्ष की थी। मैं बाहर यात्रा पर था, वे बीमार पड़ गये। पूरे दस महीने वे रोग-शैया पर पड़े रहे। जैसे मृत्यु से होड़ ले रहे हों। उन्हें बस मेरी प्रतीक्षा थी। मुझे देखे बिना वे इस संसार को अन्तिम प्रणाम नहीं करना चाहते थे।

मैं आया और वे जाने के लिए तैयार हो गये। यह सन् १९३१ की बात है। ठीक दीवाली के दिन मेरी जांघ पर उनका सिर था, जब उन्होंने स्वयं मृत्यु का स्वागत किया, वे चले गये। पर अपने पीछे शत-शत स्मृतियां छोड़ गये।

उस वर्ष सारे ग्राम की दीवाली तो भला कैसे रुक सकती थी; पर हमारी गली में और भी घर थे जहां मेरे दादा के देहान्त के कारण दिये नहीं जले थे। सच कहता हूं, मुझे यों अनुभव हो रहा था जैसे घर के अँधेरे कोने में दादा की आवाज गूँज उठेगी—"दिये नहीं जलाओगे तो मुझे मेरा पथ कैसे नजर आयेगा ?"

हाँ, मुझे याद है, मेरे दादा को प्रकाश से विशेष प्रेम था। जिस महफिल में वे बैठ जाते, वहाँ मानो खुद-ब-खुद दिये जल जाते। कुछ ऐसा ही उनके व्यक्तित्व का प्रभाव था।

मन में तो आता है कि दादा का पूरा रेखाचित्र तैयार करके और

लौटती डाक से सरदार गुरुबख्शसिंह के पास भेज दूँ। पर अभी तो दूसरे कई काम बाकी हैं।

दादा-दादी के रेखाचित्र तो वस्तुतः चिरस्मरणीय हैं, क्योंकि इनकी एक-एक रेखा उभर कर कहती है—अनेक पीढ़ियां आईं और अभी तो और आयेंगी, क्योंकि समय का रथ तो कभी रुकता नहीं।

गोधूलि

गोधूलि से सम्बन्धित शत-शत चित्र देखने के पश्चात् भी मन यही कहता है—इससे भी अच्छा चित्र प्रस्तुत किया जाना चाहिये ! जिसने नगर में जन्म लिया और वहीं रहा उसे तो गोधूलि का मामूली दृश्य भी भा जायगा। पर जो स्वयं गाँव में पैदा हुआ और जाने कितने जनपदों के गाँवों में घूम-फिर आया उसे तो गोधूलि का कोई मुँह-बोलता चित्र ही पसन्द आ सकता है।

सन्ध्या का समय है। गायें जंगल में चर कर लौट रही हैं। उनके खुरों से धूल उड़ने के कारण धुँध-सी छा गई है। यह तो गोधूलि का साधारण रूप है। इससे आज के कवि का मन झंकृत नहीं हो सकता। आज के कवि की तो बात दूर रही, पुराना कवि तो इतने भर से सन्तुष्ट नहीं हो सकता था। इतने भर से तो केवल गोधूलि का शब्दार्थ ही सामने आता है। बल्कि आज का कवि तो शायद गोधूलि की प्रशंसा करने की बजाय उलटा इसके विरुद्ध बहुत कुछ कह जाय। क्योंकि धूल आखिर धूल है, फिर चाहे वह गौओं के खुरों से उड़े और चाहे तेज़

हवा चलने से, धूल में तो कोई अच्छी बात नहीं—यह दलील बड़ी आसानी से दी जा सकती है।

हाँ तो बात धूल की नहीं, गोधूलि की है। इसका मुख्य विषय है सन्ध्या-वेला। कविता में सन्ध्या के अनेक दृश्य प्रस्तुत किये गये हैं और अभी इस पर जाने कितना लिखा जाना बाकी है। यदि उषा-काल का अपना चमत्कार है तो गोधूलि का भी कुछ कम महत्त्व नहीं। पर जिस व्यक्ति ने पहले-पहल गोधूलि की चर्चा की थी, उसने देखे होंगे गौओं के अनेक समूह। इसी गोधन के प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए उसने सांझ के लिए 'गोधूलि' शब्द का प्रयोग किया होगा।

विद्यापति ने एक स्थल पर गोधूलि की चर्चा करते हुए कहा है—

जब गोधूलि समय बेलि
धनि मन्दिर बाहिर भेलि,
नव जलधरे बिजुरि-रेहा
द्वन्द्व पसारि गेलि।

कवि ने देखा कि गोधूलि-बेला में पूजा समाप्त करके एक युवती अभी-अभी मन्दिर से बाहर आकर अपने घर की ओर चल पड़ी। बस यही दृश्य देखकर उसका हृदय झंकृत हो उठा। कोई चाहे तो झट पूछ सकता है कि इसमें गोधूलि को कैसे श्रेय मिलेगा। यदि कवि ने किसी और समय इस सुन्दरी को देखा होता तो उसे सौंदर्य की अनुभूति बिल्कुल न हुई होती, यह तो नहीं कहा जा सकता। प्रत्येक दृश्य के लिए उसी के अनुरूप पृष्ठभूमि की आवश्यकता पड़ती है। हर समय एक ही दृश्य अच्छा नहीं लगता। यह सच है कि समय की छाप के बिना कोई चित्र बोल ही नहीं सकता। अतः यह बात विश्वास-पूर्वक नहीं कही जा सकती कि यदि कवि ने इस सुन्दरी को किसी और समय देखा होता तो उस पर उसकी छवि का यही प्रभाव पड़ता।

विद्यापति के इस पद की ओर संकेत करते हुए रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने लिखा था—"गोधूलि-काल में एक कन्या मन्दिर से निकल आई, यह तथ्य हमारे निकट अत्यन्त सामान्य है। इस संवाद के सहारे ही यह चित्र हमारे सामने स्पष्ट नहीं खिंच जाता। हम मानो सुनकर भी नहीं सुनते। एक चिरन्तन एक-रूप में वह वस्तु हमारे मन में स्थान नहीं पाती। यदि कोई 'मान न मान मैं तेरा मेहमान' भला आदमी हमारा ध्यान खींचने के लिए इस खबर को फिर सुनाने लगे तो हम खीज कर कहेंगे—'कन्या अगर मन्दिर से निकल आई तो हमारा क्या?' अर्थात् हम उसके साथ उसका कोई सम्बन्ध अनुभव नहीं कर रहे हैं, इसलिए यह घटना हमारे लिए सत्य ही नहीं है। किन्तु ज्यों ही छन्द, सुर, उपमा के योग से यह मामूली बात सुषमा (सौंदर्य) के एक अखण्ड ऐक्य के रूप में सम्पूर्ण होकर प्रकट हुई, त्योंही यह प्रश्न शान्त हो गया कि 'इससे हमारा क्या?' क्योंकि जब हम सत्य को पूर्ण रूप में देखते हैं तब उसके साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध के द्वारा आकृष्ट नहीं होते, सत्यगत सम्बन्ध के द्वारा आकृष्ट होते हैं। गोधूलि के समय कन्या मन्दिर से निकल आई, इस बात को तथ्य के तौर पर यदि पूरा करना होता तो शायद अनेक और भी बातें कहनी पड़तीं। आस-पास की बहुतेरी खबरें इसमें जोड़ने से रह गई हैं। कवि शायद कह सकता था कि उस समय कन्या को भूख लगी थी और वह मन ही मन मिठाई की बात सोच रही थी। बहुत सम्भव है, उस समय यही चिन्ता कन्या के मन में सब से अधिक प्रबल थी। किन्तु तथ्य जुटाना कवि का काम नहीं है। इसीलिए जो बातें बहुत ही ज़रूरी और बड़ी हैं वही कहने से रह गई हैं। यह तथ्य का बोझ जो कम हो गया है। इसीलिए संगीत के बन्धन में छोटी-सी बात इस तरह एकत्व के रूप में परिपूर्ण हो उठी है और कविता ऐसी सम्पूर्ण और अखण्ड होकर प्रकट हुई है कि पाठक

का मन इस सामान्य तथ्य के भीतरी सत्य को इस गहराई के साथ अनुभव कर सका है। इस सत्य के ऐक्य को अनुभव करते ही हम आनन्द पाते हैं।"

इस पर भी शायद कोई कहे कि विद्यापति को यदि गोधूलि में अधिक अनुराग था तो उन्हें यह बात अवश्य स्पष्ट कर देनी चाहिए थी। कोई मनचला तो यहाँ तक कह सकता है कि देखिए साहब 'एक ने कही दूसरे ने मानी' वाली बात नहीं चलेगी, और विद्यापति की वकालत रवीन्द्रनाथ ठाकुर करें, यह तो हमें बिलकुल स्वीकार नहीं। इसके उत्तर में यही कहा जायगा कि गोधूलि के महत्त्व को अपनी ही आँखों से देखने का यत्न करो, और हो सके तो इसके साथ दर्शक के जीवन की कोई स्मरणीय घटना जुड़ जानी चाहिए।

विद्यापति ने जिस सुन्दरी को गोधूलि-वेला में मन्दिर से निकलकर घर जाते देखा था, उसकी मुखाकृति में शायद रूप की अपेक्षा लावण्य ही अधिक रहा होगा। किस प्रकार उसने कवि के मन को खींच लिया, यह बात कवि ने स्पष्ट नहीं की। कवि ने कल्पना कर ली होगी कि जब यह युवती हँसती होगी तो उसके गालों पर गुलाब खिल उठते होंगे! आप कहेंगे गुलाब तो गोधूलि के समय नहीं खिलते। शायद उस समय आकाश पर श्वेत सारस उड़े चले जा रहे होंगे। कौन जाने युवती और कवि की निगाहें एक-साथ सारस-पंक्ति की ओर उठ गई हों। पर कवि ने इसके बारे में कुछ भी तो नहीं कहा। शायद कवि ने सोचा होगा कि उस युवती की उड़ती हुई अलक उसके गाल को ढकने का यत्न कर रही है। या शायद कवि को ध्यान आ गया हो कि जब कच्ची उमर में वह युवती लकड़ी के खेल-घोड़े पर चढ़ती होगी तो वह कितनी सुन्दर लगती होगी। कौन जाने युवती अनायास ही हँस पड़ी हो और उसकी भौंहें तिरछी हो गई हों, या शायद कवि को यह

ध्यान आ गया हो कि जब शारदीया हवा के जमा किये हुए झरे-जीर्ण पत्तों पर यह युवती चलेगी तो कैसी अजीब-सी ध्वनि पैदा होगी। यह भी हो सकता है कि कवि ने सोचा हो कि जब यह युवती अपनी बगिया में तितलियों के पीछे भागती होगी तो उसकी अलकें एकदम हवा में लहराने लगती होंगी। पर आप कह सकते हैं यह सब कल्पना व्यर्थ है, क्योंकि कवि ने तो ऐसी कोई बात कही ही नहीं। फिर आप यह भी पूछ सकते हैं कि यदि ये सब ठीक भी हों तो बताओ इसमें गोधूलि की बात कहाँ से आ गई।

मैं मान लेता हूँ कि मैं जरा सुर चढ़ाकर गोधूलि की बात लिख रहा हूँ। पर मैं तो कहूँगा कि मुझे इसका अधिकार है। क्या हुआ यदि विद्यापति का युग कभी का लद गया, मैं तो आज उसी युग का स्पर्श अनुभव कर रहा हूँ।

अभी-अभी कहीं हिमाचल-प्रदेश के एक किन्नर लोकगीत का उल्लेख देखा, जो 'ना-न-न-न-न-न-न-न-ना ई, ना-न-न-न-न-न-न-न-नो-ो-ो-ऽ' की गमक पर अग्रसर होता है अनुवाद में भी मूल द्रव्य दबता नहीं—

जङ् मोपोती बोली—"सखि, हे सखि !
चलो पर्वत के ऊपरी भाग पर खेत की रक्षा करने चलें।"
कृष्णा भगती बोली—"चलने को तो कहती हो,
कलेवा क्या ले चलें ?"
"कलेवा तो ले चलें रोपङ् का भुना गेहूँ,
किल्ना पापड़ का आटा,
ठोकरों के काले उड़द की दाल !"

मैं सच कहता हूँ कि जङ् मोपोती और कृष्णा भगवती की इस बातचीत में एक पल के लिए प्रभात का चित्र उभरा ज़रूर, पर शीघ्र ही मेरा ध्यान गोधूलि की ओर पलट गया। मेरा मन बस यही सोचने

लगा कि गोधूलि-बेला में ये किन्नारियाँ कितनी सुन्दर लगती होंगी। सोचता हूँ कि ये किन्नारियाँ तो दिन-रात में गुँथी रह कर आज भी दिन-यात्रा का गान किये जा रही होंगी। कलेवे का सम्बन्ध तो हुआ सवेरे के साथ। गोधूलि की बात का क्या इस गान में एकदम जिक्र नहीं रहता होगा?

इसी गोधूलि को लेकर एक मित्र से बात हो रही थी। वह बोला—"तुम्हारा स्वभाव तो बिलकुल गुठली तक पके हुए आम की तरह है। जिस बात को तुम पकड़ते हो छोड़ते ही नहीं। ठीक उसकी गहराई तक चले जाते हो।"

मैंने पलट कर कहा—"तब तो मेरा स्वभाव गोधूलि के अनुरूप ही हुआ। अन्धेरे में ही तो चिन्तन का मज़ा है। अरे भई, गोधूलि यही सन्देश लेकर आती है कि अब और सब काम-धन्धा छोड़ो, हाथ-मुँह धोकर बैठ जाओ और थोड़ा चिन्तन कर लो।"

उस समय मेरी कल्पना के कला-भवन में उस युवती का चित्र एकदम उभरा जिसे एक दिन विद्यावति ने गोधूलि-वेला में पूजा समाप्त होने पर मन्दिर से निकल कर घर की ओर जाते देखा था। जैसे यह युवती कह रही हो—पूछो क्या पूछना चाहते हो? फिर जैसे वे किन्नारियाँ—जड़ मोपोती और कृष्णा भगती, भी खिलखिला कर हँस पड़ी हो—हाँ, पूछो, पूछो! मैं कहना चाहता था कि पूछनेवाली कोई बात हो तो पूछूँ भी। जैसे मन्दिर से निकल कर घर को जाती हुई युवती भी व्यंग्य-भरी हँसी हँसे जा रही हो। मैं मन ही मन खिसियाना-सा होकर यही कहने जा रहा था कि गोधूलि-वेला की धूल तो मुझे बिलकुल नहीं सुहाती। हाँ, गौओं को गाँव की ओर लौटते देख कर मन खुशी से उछल पड़ता है। अब इन गौओं का दूध दुहा जायगा, मन कह उठता है, अब इन के बछड़ों को भी थोड़ा-बहुत दूध

अवश्य पीने को मिलेगा ।

हाँ, तो दूध दुहने के चित्र की कल्पना में गोधूलि को थोड़ा-बहुत श्रेय तो अवश्य मिलना चाहिए । आप कह सकते हैं—वाह, यह भी कोई बात हुई ? दूध तो प्रभात के समय भी दुहा जाता है । इसके उत्तर में मैं यही कहूँगा कि सन्ध्या-समय गो-दोहन का चित्र जितना प्रिय लगता है उतना प्रभात में नहीं । आप इस के विरुद्ध दलील नहीं दे सकते, क्योंकि यहाँ तो अपनी-अपनी रुचि की बात है ।

सन्ध्या-समय के गो-दोहन की सर्वप्रथम याद मेरे हृदय पर सदा अंकित रहेगी । धरती पर बैठकर मैंने एक ग्वाले से कहा था कि वह मेरे मुँह में दूध की धार छोड़े । कितना आनन्द आया था । दूध की धार के स्पर्श मात्र से मेरा मन नाच उठा था । गोधूलि के समय मैंने इस गाय को घर आते देखा था । इसीलिए उस दुग्धपान के साथ गोधूलि का चित्र आज तक मेरे मन पर अंकित है ।

जिस युवती को विद्यापति ने देखा था, उससे मैं पूछना चाहता हूँ कि कहो तुम्हारे मुँह में भी कभी किसी ने दूध की धार छोड़ी थी । मैं तो उन किन्नारियों से भी पूछना चाहता हूँ कि क्या उन्हें भी बचपन का कोई ऐसा संस्मरण याद है ।

जैसे कोई आवाज़ आ रही हो—यदि तुम गोधूलि के समय रुक जाओ तो इन फैले हुए केशों से तुम्हारे चरण पोंछ डालूँ !

पर मुझे यह बिलकुल पसन्द नहीं कि कोई अपने केशों से मेरे पैर पोंछने का कष्ट उठाये । गोधूलि के समय तो यों ही राह-चलते पैरों पर धूल लग जाती है ।

जैसे यह आवाज़ बराबर आ रही हो—गोधूलि-काल के मन्द प्रकाश में ही तो मैंने तुम्हें सर्वप्रथम देखा था ।

मैं कहना चाहता हूँ—अवश्य देखा होगा । ओ अजानी सुन्दरी !

पर मैं तो विद्यापति नहीं कि इसी घटना को लेकर कोई कविता रच डालूँ।

चीनी-कवि ली पो ने कभी गाया था—"दिन की आभा विदा ले रही है, फूल धुन्ध में छिप गये हैं!" सोचता हूँ कि क्या ली-पो ने गोधूलि-काल में धूल का मेघ देख कर ही उसे धुन्ध से उपमा दी थी। फिर सोचता हूँ कि चीनी कवि ने यह भी तो कहा था—"दक्षिण से आ रहे हंसों को न मारो। इन्हें उतर जाने दो। यदि मारना ही है तो जोड़े को मारो और उन्हें लेलो। उन्हें एक दूसरे से जुदा न होने दो!" सोचता हूँ इस कविता पर भी गोधूलि-काल के गम्भीर चिन्तन का प्रभाव अवश्य पड़ा होगा।

याद आती है जापान की एक युद्ध-सम्बन्धी प्रथा की। अभी एक वीर रणभूमि की ओर प्रस्थान कर रहा है। वीर को विदा देने के उपलक्ष्य में घर की स्त्रियों ने पथ पर एक रुमाल बिछा दिया। देखो समीप से गुजरनेवाली नारियाँ अपनी-अपनी सुई से इस रुमाल में एक-एक गूँथ लगाती चली गईं। लो, एक हजार नारियों की सुइयों के गूँथ पूरे हो चुके। अब यह वीर इस रुमाल को सर पर बाँध कर खुशी से रण-भूमि को जा सकता है। क्योंकि पुरातन विश्वास के अनुसार यह सहस्र गूंथोंवाला रुमाल एक कवच का काम देता है और युद्ध में मृत्यु से रक्षा करता है। याद आती है एक आधुनिक चीनी कविता जिसमें कवि लिङ-ह्-लिङ-त इस जापानी प्रथा को लक्ष्य करके कहता है—

तुम गूंथती हो एक गूंथ आशा का!
तुम गूंथती हो एक गूंथ श्रद्धा का!
कौन फेंकता है शोकाकुल दृष्टि!

स्वस्तिवाचन में प्रकम्पित होता है किसका स्वर ?
आशा परिणत होगी मुट्ठी भर राख में,
स्वस्तिवाचन भी होगा म्लान होठों पर,
एक करुणा से—मूढ़ता से—पूरित विचार वस्त्रखण्ड पर,
एक दुःखान्त कथा का घृणा से पान मानस में,
ओ ! सहस्र गूंथ गूंथने में लगी ललनाओ !
गूंथो अपने न गिर रहे अश्रुमुक्ताफल,
गूंथने की सुई का प्रयोग करो ठीक ठीक,
छेद डालो छोटे अवगुण्ठन को,
भेद डालो मत्त हृदयों को
और न खुलनेवाली मोह-निद्रा को !

सच पूछो तो मुझे यह गोधूलि भी कोई ललना प्रतीत होती है जो अकेली सहस्र ललनाओं की तरह मेरे लिए पथ पर बिछे रुमाल में सुई से गूंथ लगा दे। हाँ, एक ही शर्त्त रहती है और वह यह कि रात भर आराम किया जाय और सवेरे दिन-यात्रा आरम्भ की जाय। इसीलिए मैं कहता हूँ—गोधूलि ! तुम्हें शत-शत प्रणाम् ! गली, पथ, गृह, द्वार—इनकी ओर से भी शत-शत प्रणाम स्वीकार करो। ये सब भीतें, ये सब खपरैल—सभी तुम्हें प्रणाम करते हैं।

समूचा इतिहास-चित्र मेरे सम्मुख खुला पड़ा है। इसमें मन्दिर से निकल कर घर जाती युवती भी नज़र आ रही है। यहां जङ् मोपोती और कृष्ण भगती सरीखी सुन्दर किन्नरियाँ भी हैं, और रुमाल में सुई से गूंथ लगाती ललनाएं भी हैं। इसमें देश-विदेश का अन्तर नहीं। यह अखण्ड मानवता का इतिहास-चित्र जो ठहरा !

गौएं जंगल से घरों को लौट रही हैं। गाँव के ये तंग गली-पथ,

ये द्वार और वातायन सभी गोधूलि-काल के सम्मुख नतमस्तक-से नजर आते हैं। गोधूलि ही तो है, कोई अपरिचिता नहीं। अरे! यह तो रोज़ आती है। गौएं रँभाती हैं। वही परिचित बोली सुनाई दे रही है।

जिस प्रकार एक कवि पीढ़ियों की उपार्जित कविता को हमारे समीप पहुँचाने का दायित्व निभाते हुए हमें इस कला-निधि का उत्तराधिकारी बनाता है और भविष्य का मार्ग दिखाता है, उसी प्रकार गोधूलि हमसे कहती है—अब विश्राम करो, पिछले अनुभव पर विचार करो। सवेरे फिर से दिन-यात्रा आरम्भ करनी होगी।